योग के आधार

अध्याय–I. प्रस्तावना

योग की प्रारंभिक तैयारी

1. योग किसके लिये है
2. सुयोग्य व्यक्ति से मार्गदर्शन
3. अभ्यास की मर्यादा
4. आयु का विचार
5. स्त्रियों के लिये विशेष नियम
6. अभ्यास का स्थान और वातावरण
7. पोशाक
8. नियमपूर्वक अभ्यास का महत्व
9. अभ्यास का समय
10. अन्य व्यायामों से तालमेल
11. प्रारंभ करने पर

अध्याय–II. विभिन्न प्राचीन ग्रथों में योग का अर्थ

वेदों में योग

उपनिषदों में योग

योग वशिष्ठ (महारामायण में योग)

गीता में योग

ब्राह्मण ग्रंथों में योग

पुराणों में योग

पातंजलि योग

अध्याय–III योग के विभिन्न प्रकार

1. भक्तियोग
2. कर्मयोग
3. राजयोग
4. लययोग
5. मंत्रयोग
6. कुंडलिनी योग
7. हठयोग

अध्याय–IV वर्तमान समय में योग का महत्व

1. स्वास्थ्य के क्षेत्र में
2. शिक्षा के क्षेत्र में योग की भूमिका
3. सर्वांगीण विकास में योग की भूमिका
4. योग को वृत्ति के रूप में साधना
5. अध्यात्मिक क्षेत्र में योग की भूमिका
6. योग में अनुसंधान की भूमिका

– **संदर्भ ग्रंथ सूची**

अध्याय—1

एन्साइक्लोपीडिया कन्डिका में योग शब्द का अर्थ

एन्साइक्लोपीडिया कन्डिका में योग शब्द का अर्थ विभिन्न प्रकारों में दिया गया है जो निम्न प्रकार से हैः—

(1) संयोग (2) उपाय तरकीब (3) वर्मपरिधान (4) कवच पहनना (5) ध्यान (6) संगीत (7) मुक्ति (8) प्रेम (9) छल धोखा (10) औषध दवा (11) धन दौलत (12) नैयायिक (13) लाभ फायदा (14) दगाबाज (15) चर वृत्त (16) छकड़ा गाड़ी (17) नाम (18) कौशल चतुराई (19) नाव आदि सवारी (20) परिणाम नतीजा (21) नियम फायदा (22) उपयुक्ता (23) वशीकरण (24) सूत्र (25) संबंध (26) सदभाव (27) धन और सम्पत्ति प्राप्त करना (28) कोई शुभ काल समय या अवसर (29) साम दाम दण्ड भेद ये चारों उपाय (30) तप ध्यान और वैराग्य (31) गति में दो या अधिक राशियों का जोड़ (32) एक प्रकार का छन्द (33) सुमीता जुगाड़ (34) वह उपाय जिसके द्वारा जीवात्मा जाकर परमात्मा में मिल जाता है मुक्ति या मोक्ष उपाय (35) सभी शब्दों का अवयवार्थ संबंध (36) योग कर्मसु कोशलं एक मात्र कर्म में जो कुशलता है अर्थात् जिस कर्म से संसार बंधन नहीं होता वही योग है, (37) फलित ज्योतिष में कुछ विशिष्ट काल या अवसर जो सूर्य और चंद्रमा के कुछ विशिष्ट स्थानों में आने के कारण होते है। जिनकी संख्या 27 है।

इस प्रकार इस कन्डिका में योग का अर्थ इन 37 प्रकारों से लिया गया है। अब हमें आगे विभिन्न वेदों में किस रूप में इसे लिया गया है। इस पर विचार करेंगे।

योग की प्रारंभिक तैयारी

जब कोई व्यक्ति आध्यात्मिक जिज्ञासा के कारण या किसी शारीरिक या मानसिक असमर्थंता को या व्याधि को दूर करने के लिये योग के अभ्यास सीखकर उनका अभ्यास करना चाहता है तो उसके सामने कुछ प्रारंभिक समस्याएँ आती है।

उनके संबंध में जानकारी होना आवश्यक है। योग के संबंध में कुछ गलत धारणायें आम लोगों में तथा कुछ योगाचार्यों के मन में भी दिखायी देतीं हैं । उनके प्रति यदि आंरभ से ही सतर्कता बरती जायें तो बहुत उपयुक्त होगा ।

1. योग किसके लिये है

योग का अभ्यास कभी कोई व्यक्ति निष्कारण या केवल योग के ही लिये, किसी उद्‌देश्य को सामने न रखते हुये, करता हुआ नहीं दिखायी देता। या तो हमारी कोई स्वास्थ्य की समस्या होती है या फिर जीवन में खोया हुआ तालमेल फिर से स्थापति करने की । जिसका कोई भी समस्या हल नहीं करनी हो या किसी उद्‌देश्य की पूर्ति न करनी हो, उसको योग की कोई आवश्यकता नहीं है ऐसा कहना अतिश्योक्तिपूर्ण नहीं होगा । हम लोगों में से भला कौन ऐसा हो सकता है जिसके सामने कोई भी प्रश्न न हो? इसीलिये यह कहना ठीक ही होगा कि योग हम सभी लोगों के लिये उपयुक्त है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि योग से हम अपनी सभी समस्याओं का हल पा सकते है। फिर भी इतना निश्चित कह सकेंगे कि योग के द्वारा हमारी ज्यादातर समस्याओं को सुलझााने में कुछ न कुछ शारीरिक और मानसिक सहायता हम जरूर प्राप्त कर सकेंगे। योग के अभ्यास से प्रत्येक व्यक्ति अपना व्यक्तिगत जीवन अधिक सुखशांतिपूर्वक, तनाव से मुक्त और अपने तथा अन्य लोगों के लिये उपयुक्त बना सकता है।

कुछ लोग योग का अभ्यास एक आवश्यक व्यायाम पद्धति के रूप में युवावस्था में या किशोरावस्था में ही प्रारंभ करते है स्वास्थ्य की रक्षा का वह एक सर्वोत्तम साधन बन जाता है। स्वास्थ्य की कोई समस्या निर्माण होने के पूर्व स्वास्थ्य रक्षा का उपाय करना यह सबसे अच्छी बात है, परन्तु ज्यादातर लोग इस बात की ओर ध्यान नहीं देते । स्वास्थ्य को पुनः स्थापित करना अधिक कठिन होता है इसीलिये बहुत से लोग आजकल रोग होने पर और दवाईयों से वह ठीक न होने पर ही योग सीखने का मार्ग अपनाते है ऐसे लोगों को योग व्यायाम सीखने में और उनके अभ्यास

में अधिक सतर्कता और सावधानी रखनी चाहिये । कमजोर तथा लंबी बीमारियों से अभी–अभी ठीक हुये लोगों को सावधानी की और भी अधिक आवश्यकता है।

खिलाड़ियों को कुशलता बढ़ाने के लिये तथा सर्वांगींण स्वास्थ्य के लिये अपने खेलों के अभ्यास के साथ योग अभ्यास करने से बहुत अधिक लाभ होता है ऐसा देखा गया हैं। जिन लोगों को अपने दैनिक जीवन में शारीरिक श्रम बिल्कुल ही नहीं करने पड़ते, उनके लिये तो योग अभ्यास एक विश्वसनीय जीवन साथी का काम कर सकते हैं– जैसे शिक्षक, महिलायें, बाबू लोग, दुकानदार आदि और जिनको प्रतिदिन हाथ पैर अधिक चलाने पड़ते हैं जैसे– कुली, मजदूर, किसान आदि उनको भी सर्वांगींण कार्यक्षमता की आवश्यकता होती है, जो योग व्यायामों से सुलभ बनती है । इस प्रकार बालकों से लेकर वृद्धों तक सभी के लिये योग उपयुक्त है।

2. सुयोग्य व्यक्ति से मार्गदर्शन

योग सीखने का निश्चय होने पर यह प्रश्न जिज्ञासु के सामने आता है कि योग किससे सीखें । पुराने समय में योग का अभ्यास करने वालों की संख्या बहुत कम होती थी । शहरों से दूर एकांत स्थान पर बने आश्रमों में ऋषि मुनि रहा करता थे उनके पास योग सीखने के इच्छुक साधक पहुंच जाते थे उनका उद्देश्य हुआ करता था संसार से मुक्ति प्राप्त करना। परन्तु आजकल इस उद्देश्य से योग सीखने में कोई प्रवृत्त होता हुआ नहीं दिखायी देता । अब स्वास्थ्य की दृष्टि से ही ज्यादातर लोग योग का सहारा लेना चाहते हैं। इसके लिये घर और व्यवसाय को छोड़कर दूर एकांत स्थान में जाना संभव नहीं हो पाता । इसीलिये शहरों में और नगरों में ही योग के शिक्षक उपलब्ध होने लगे हैं, परन्तु यह आवश्यकता अभी पिछले कुछ वर्षो से ही निर्माण हुई है और सुयोग्य योग शिक्षकों के प्रशिक्षण की कोई खास व्यवस्था न होने के कारण इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये कई व्यक्ति इस क्षेत्र में ऐसे भी प्रविष्ट हुये हैं जिनको योग की पर्याप्त जानकारी नहीं है इसीलिये सुयोग्य योग शिक्षक को प्राप्त करना ही महत्व रखता है। गलत ज्ञान या गलत जानकारी खतरनाक और दुखःदायक

हो सकती है । इसीलिये सुयोग्य शिक्षक से ही योग सीखने चाहिये । सुयोग्य योग शिक्षक की क्या पहचान है इसके संबंध में कुछ स्थूल रूपरेखा बतायी जा सकती है।

3. अभ्यास की मर्यादा

जैसा कि हम पहले देख चुके है, योग में अनेक प्रकार के अभ्यास समाविष्ट किये गये है। आसनों के ही सैकड़ों प्रकार प्रचलित है प्राणायाम, शुद्धिक्रियाएँ, मन को वश में करने के उपाय, मन की एकाग्रता प्राप्त करने की विधि, ये सभी योग के अभ्यास अत्यन्त विविधतापूर्ण हैं। उन सभी को सीखने और आचरण में लाने के लिये मनुष्य का पूरा जीवन छोटा पड़ जायेगा और उससे कोई विशेष फायदा भी नहीं । योग के अभ्यास साध्य नहीं हैं, साधन है, इस बात को भलीभाँति समझना आवश्यक है। योगाभ्यास का सर्वप्रथम लक्ष्य है मनोकायिक आरोग्य । यही हम लोगों में से अधिकतर लोगों का लक्ष्य होता है। उससे आगे का ध्येय हो सकता है मनः शान्ति जिसको अपने जीवन में उतारने की पात्रता इने–गिने लोगों की ही होती है । योग का सर्वोच्च ध्येय है दुःख, अज्ञान और पुनर्जन्म से मुक्ति । हमारे सामने ध्येय कौन सा है, इसके अनुसार योग के अभ्यास की मात्रा या मर्यादा निश्चित होगी । सबसे समीपस्थ ध्येय 'अरोग्य' को प्राप्त करने के लिये अभ्यास भी सीमित ही पर्याप्त होगा। जैसे चुने हुये पंद्रह–बीस व्यायामात्मक आसन, एक दो, ध्यानात्मक आसन, प्राणायाम में केवल पूरक और रेचक शुद्धिक्रियाओं में जलेनति, वमन धौति और कपाल भांति, शिथिलता का अभ्यास तथा ध्यान की प्राथमिक अवस्था इतना अभ्यासक्रम सामन्यतः आरोग्य की रक्षा के लिये पर्याप्त समझा जायेगा। इसके लिये चालीस–पैंतालीस मिनट का समय प्रतिदिन एक बार, सबेरे या शाम को निकालने से काम चल जायेगा।

जिन लोगों के पास अधिक समय है और जो लोग योगाभ्यास में अधिक प्रवीण बनना चाहते है तथा दूसरों को योग सिखाने का काम करना चाहते हैं, उनको ऊपर लिखी मर्यादा से बहुत आगे बढ़ना होगा । उनको केवल योग के क्रियात्मक अंग का ही अभ्यास करके उसमें पारंगत होना काफी नहीं है । उसके साथ इन क्रियात्मक

अभ्यासों के पीछे जो चिंतन और जो सिद्धांत हैं उनकी जानकारी होना बुहत आवश्यक है।

4. आयु का विचार

किस आयु में योग का अभ्यास प्रारंभ करना चाहिये क्या छोटे बच्चे या वयस्क लोग योगाभ्यास कर सकते हैं ये दो प्रश्न अक्सर लोगों के मन में आते हैं। किशोरावस्था में योग के अभ्यास का प्रारंभ करना वैसे सबसे अच्छा है, क्योंकि उस आयु में शरीर लचीला और स्फुर्तियुक्त रहता है तथा मन तरोताजा और नयी चीजें सीखने के योग्य रहता है। युवावस्था में तथा प्रौढ़ अवस्था में भी योग के अभ्यास सीखें जा सकते है बशर्ते कि सीखने वाले में लगन और आत्मीयता हो । वयस्क अवस्था में योग का शारीरिक पक्ष कमजोर और कठिन हो जाता है, परन्तु यदि पहले से ही अभ्यास अपनी सुविधा और शक्ति के अनुसार जारी रखे जा सकते हैं। सामान्यतः आसनों का अभ्यास पाँच छः वर्ष की आयु में तथा प्राणायाम के अंतर्गत पूरक, रेचक का अभ्यास बारह वर्ष की आयु में प्रारंभ किया जा सकता है।

5. स्त्रियों के लिये विशेष नियम

मासिक धर्म और गर्भिणी अवस्था तथा प्रसूति, इनके कारण स्त्री की शरीर रचना पुरूष से भिन्न होती है । इन्हीं अवस्थाओं के संबंध में स्त्रियों को कुछ विशेष नियम योगाभ्यास में आवश्यक हो जाते हैं। मासिक धर्म के समय शरीर में एक प्रकार की कमजोरी और मन में तनाव का अनुभव होता है । कई बार दर्द भी होता है। इन सब परिस्थितियों के कारण उन पाँच दिनों में कोई शक्ति या गति वाले व्यायाम नहीं करने चाहिये। आसनों में शीर्षासन, सर्वांगासन, विपरीत करणी, मयूरासन, हलासन, शलभआसन आदि नहीं करना चाहिए, परन्तु उत्तान मंडुकासन, गोमुखासन, अर्धमत्स्येंद्रासन, भद्रासन, योगमुद्रा, मत्स्यासन, भुजंगासन इनको किया जा सकता है। पूरक, रेचक बाह्यकुंभक तथा मूलबंध, उड्डियानबंध एवं अग्निसार से तथा कपाल भांति

से मासिक धर्म के दिनों में भी लाभ होगा। गर्भवती स्त्रियों को पाँचवें महीने के बाद उदर पर दबाव या तनाव लाने वाले आसान नहीं करने चाहिये, पूरक, रेचक प्रसूति के कुछ दिनों पूर्व तक कर सकते हैं। मासिक धर्म और गर्भिणी अवस्था को छोड़कर अन्य सामान्य दिनों में स्त्रियाँ पुरूषों के समान सभी आसन कर सकती हैं। उनके लिये उदरगुहा और कटि के व्यायाम अधिक महत्व रखते हैं, जैसे आगे और पीछे झुकने के आसन, मूलबंध, उड्डियान बंध, भद्र उत्तानमंडूक, गोमुख तथा अर्धमत्स्येंद्र आदि आसन तथा पूरक रेचक और कपालभाति । इन सभी व्यायामों से उदर गुहा में स्थित इंद्रियों का और खास कर गर्भाशय का स्वास्थ्य ठीक रखने में बहुत सहायता मिलती है। इससे मासिक धर्म और गर्भ अवस्था से संबंधित अनेक कमजोरियाँ और अनियमिततायें दूर की जा सकती हैं।

6. अभ्यास का स्थान और वातावरण

योग के प्राचीन ग्रंथों में योगाभ्यासी साधक का रहने का स्थान कैसा हो, वहाँ क्या–क्या चीजें होनी चाहिये, आसपास क्या होना चाहिये, क्या नहीं होना चाहिये, वहाँ पर मनुष्यों से, चोर आदि से, आक्रमक शत्रु से, दुर्भिक्ष, बाढ़, आग आदि से तथा चूहे, मच्छर, खठमल आदि से किसी प्रकार के उपद्रव की संभावना नहीं होनी चाहिये, वह स्थान बड़ा सुरम्य हो, जिससे योगाभ्यास में मन लगा रहे, परन्तु यह हुयी योग के शरण साधक की बात जिसके जीवन का लक्ष्य होगा संसार से मुक्ति। हम सब लोग तो अपने दैनिक जीवन को अधिक संपन्न और स्वस्थ बनाने के लिये योग का अभ्यास करना चाहते है, उससे दूर भागकर मुक्त होने के लिये नहीं । एकांत और जनसंपर्क से दूर जाना हमारे लिये सरल नहीं को सकता, परन्तु फिर भी योग के अभ्यास का स्थान कोलाहल और भीड़ से मुक्त, स्वच्छ शांत और हवादार तो होना चाहिये । वह ठंडक, गर्मी और तेज हवा से सुरक्षित होना चाहिये। अकेले में अभ्यास करना हो तो अपने मकान के किसी कमरे में कर सकते हैं। अनेक लोग एकत्रित होकर किसी बड़े कमरे में, मंदिर या किसी संस्था के भवन में या किसी मैदान या उद्यान में भी

योगाभ्यास कर सकते है, परन्तु सार्वजनिक स्थान में देखने वालों से कोई रूकावट या उपद्रव नहीं हो, यह देखना होगा।

प्रत्येक व्यक्ति को छः फुट लंबी तथा चार फुट चौड़ी जगह आवश्यक होगी, जिससे लेटकर किये जाने वाले आसन भी किये जा सकें । जमीन ऊपर नीची, गढ्ढे वाली या अस्वच्छ नहीं होनी चाहिये । समतल होनी चाहिये । उस पर मोटी दरी पर प्रत्येक व्यक्ति अपनी अलग चादर बिछायें तो बैठने और लेटने के लिये आसन तैयार हो जायेगा । अपने ही घर में यदि प्राणायाम या ध्यान करना हो तो तखत या टेबल को भी काम में लाया जा सकता है, परन्तु उसके कठिन पृष्ठ पर या सीधे जमीन पर कुछ बिछाये बिना नहीं बैठना चाहिये । वैसे आसन के लिये गद्दे की कोई आश्यकता नहीं होती, परन्तु इतना ध्यान अवश्य रहे कि आसन ऐसा हो जिससे बैठना, लेटना, ये काम सुविधा से और बिना कष्ट या दर्द के हो सके ।

7. पोशाक

योग व्यायाम करते समय कपड़े ऐसे पहिनने चाहिये जो गर्मी तथा ठंडक से शरीर की रक्षा करने के लिये आवश्यक हो, परन्तु बैठने में, लेटने में, खड़े होने में तथा हाथ पैरों की विभिन्न आसनों की, विभिन्न रचनाओं में बाधा न बने । आजकल खिलाड़ी या स्पर्धक जो ट्रेकसूट पहनते है वह स्त्रियों तथा पुरूषों के लिये उपयुक्त है। उसमें पूरा शरीर ढँक जाता है और साथ–साथ हाथ, पैरों की हलचल भी आसानी से की जा सकती है। भारत जैसे देश में धोती और साड़ी ये पुरूष और स्त्रियों की जो सामान्य पोशाक होती है, वह व्यायाम के लिये उपयुक्त नहीं है। गर्मी के दिनों में पुरूषों के लिये लंगोट या अंबरबेयर तथा हाफपेंट और बनियान, यह पोशाक योग व्यायामों के लिये उपयुक्त होगी । स्त्रियों के लिये चूड़ीदार और कुर्ता पर्याप्त समझना चाहिये । कपड़े ढीले हों, बहुत चुस्त न हों। अनेक लोग मिलकर जब योगाभ्यास करते होंगे, तब सबकी पोशाक एक सी होने पर एक अच्छा वातावरण बनने में सहायता मिलती है। उसका प्रभाव प्रत्येक अभ्यासक के मन पर होकर उसको लाभ होगा ।

8. नियमपूर्वक अभ्यास का महत्व

अभ्यास का अच्छा फल तभी मिल सकता है जब उसको नियमित रूप से किया जाये । अनियमित व्यक्ति जीवन में किसी भी क्षेत्र में यश प्राप्त नहीं कर सकता । वह सफलता से वंचित ही रहेगा । वैसे आजकल के बहुत अधिक व्यस्त जीवन में कोई काम नियमपूर्वक करना कठिन होता है क्योंकि विशेष परिस्थितियों के कारण विक्षेप तथा बाधाएँ आती रहती हैं परन्तु अभ्यास में नियमित न रह पाने का मुख्य कारण ज्यादातर लोगों में व्यस्त जीवन न होकर व्यक्ति का आलस ही होता है। आलस पर यदि मनुष्य नियंत्रण कर सके तो फिर नियमपूर्वक योगाभ्यास निश्चित ही किया जा सकता है।

शारीरिक एवं मानसिक लाभ प्राप्त करने के लिये योग व्यायामों का अभ्यास हफ्ते में सातों दिन तथा महीने के तीसों दिन करना आवश्यक नहीं होता। यदि व्यक्ति हफ्ते में पाँच दिन अभ्यास करें तो भी उसका पूरा लाभ हो सकता है। यात्रा बीमारी, अन्य आवश्यक कार्यों में व्यस्त होना आदि कारणों से जब किसी दिन अभ्यास न हो पाये तो विक्षेप डालने वाले उस कारण के समाप्त होते ही अभ्यास पुनः आरंभ करना चाहिये । यह बात अत्यन्त महत्व की है। कई लोग आंरभ में तो बड़ी लगन से योग व्यायाम करते है परन्तु किसी कारण से उसमें कुछ दिनों के लिये विक्षेप आने से फिर उनका उत्साह समाप्त होकर अभ्यास छूट जाता है । फिर प्रारंभ ही नहीं हो पाता, यद्यपि वे कहते तो रहते हैं कि उससे अच्छा लाभ मिल रहा था और अभी वे फिर से अभ्यास करने के इच्छुक हैं। फिर व्यस्त जीवन का, समय न मिलने का एक बहाना आ जाता है।

प्रतिदिन अभ्यास का एक ही समय रखना अधिक अच्छा है। जैसे सबेरे या शाम को परन्तु किसी कारण से उस निश्चित समय पर अभ्यास की संभावना न हो तो अभ्यास से वंचित रहने की अपेक्षा समय बदलकर भी उस दिन का अभ्यास करना

अधिक श्रेयस्कर होगा । आस्था बनाये रखना और आलस न करना इन दो बातों का नियमित अभ्यास के लिये सर्वाधिक महत्व है।

9. अभ्यास का समय

सबेरे का समय नियमित अभ्यास के लिये अधिक उपयुक्त होता है क्योंकि अभ्यास के लिये पेट खाली होना चाहिये, यह शर्त सबेरे नाश्ता करने के पूर्व अपने आप ही पूरी हो जाती है, बशर्ते कि शौच आदि से व्यक्ति निवृत्त हो चुका हो। सबेरे का समय ज्यादातर अपना रहता है। उसमें और लोग मिलने के लिये आने का कारण निर्माण होने वाले विक्षेप कम रहते हैं। परन्तु सबेरे नींद से उठने के पश्चात् शरीर के अंग कड़े रहते है उनमें लोच कम रहती है। शाम के समय दिन भर के चलन के कारण शरीर में लचीलापन सबेरे की अपेक्षा अधिक रहता है। इसीलिये आसन करने में शाम के समय अधिक आसानी रहती है, परन्तु पेट खाली न रहना और लोगों से मिलना–जुलना, ये दोनों बातें शाम के समय अधिक विक्षेपजनक रहती हैं। अभ्यास हम कभी भी करें वह हमेशा मन लगाकर, शांति से करना चाहिये । आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि के संबंध में विचार दूर रखने से मन को उनसे मुक्त रखने से बहुत लाभ होता है। साधक को योग के अभ्यास के समय एक प्रकार के अलगाव का, अपने को और बाह्य विश्व को कुछ समय के लिये भूल जाने का

अनुभव करने की आदत डालनी चाहिये। इस आदत से मन अधिक वैराग्यशील होने लगता है। उस पर तनावों का बोझ कम होने लगता है और मन में योगाभ्यास के प्रति अधिक रूचि पैदा होती है।

योगाभ्यास कब करें इसके लिये सबेरे या शाम के समय से भी अधिक महत्वपूर्ण बात है पेट का खाली होना । खाना खाने के चार या पाँच घंटे बाद तक आसन, प्राणायाम नहीं करना चाहिये । प्राणायाम के लिये पेट खाली होना अधिक आवश्यक रहता है। नाश्ते के बाद दो घंटे बीतने पर आसन, प्राणायाम का अभ्यास

किया जा सकता है । योगाभ्यास के बाद नाश्ता, चाय या भोजन के लिये तीस चालीस मिनट से अधिक रूकने की आवश्यकता नहीं होती ।

10. अन्य व्यायामों से तालमेल

योग व्यायाम करने वाले को अन्य कोई व्यायाम करना ही नहीं चाहिये ऐसी कोई बात नहीं है। अन्य व्यायामों के साथ योग व्यायाम करना निषिद्ध नहीं है, परन्तु अन्य व्यायाम और योग इनमें तालमेल रखना जरूरी है। जिन लोगों का जीवन बहुत व्यस्त होता है और उसके कारण व्यायाम ही कर लें तो चल सकता है परन्तु योग व्यायामों के पूर्व सूर्य नमस्कार, दंड बैठक, रस्सी कूद, जैसे सक्षम व्यायामों में से कोई व्यायाम करें तो अधिक उपयुक्त होगा। योग व्यायामों को हम विश्रम व्यायाम कह सकते है। विश्रम व्यायाम लोच और आंतरिक स्वास्थ्य के लिये बहुत उपयुक्त हैं परन्तु उनमें मांसपेशियाँ अधिक विकसित और सुडौल नहीं होतीं । इसीलिये प्रारंभ में कोई सश्रम व्यायाम करना अधिक हितकर होता है उसके बाद योग के आसन, तत्पश्चात् शिथिलीकरण फिर प्राणायाम और अंत में मेडिटेशन या ध्यान, ऐसा क्रम ठीक रहता है।

जो लोग सश्रम व्यायाम नहीं कर सकते जैसे मरीज कमजोर या वयस्क लोग, वे यदि कुछ देर तक घूमने का व्यायाम करें तो बहुत लाभदायक होता है। उसके बाद योग के आसन और तत्पश्चात् प्राणायाम करें । खिलाड़ी तथा स्पर्धक जो सामान्य चुस्ती और कार्यक्षमता अर्थात् बेसिक फिटनेस को बढ़ानें के लिये योगासन एवं प्राणायाम करना चाहते हैं वे योग व्यायामों के लिये प्रारंभ में ही अलग से समय दें तो अच्छा रहता है इसके बाद वे अपने स्पर्धा के व्यायामों का अभ्यास, जैसे दौड़ लगाना, बेडमिंटन, टेनिस आदि खेलना, बॉक्सिंग, कुश्ती करें ।

जिनको केवल योग के ही व्यायाम करने हैं वे कौन या क्रम रखें यह एक महत्व का प्रश्न है। सबसे पहले व्यायामात्मक आसानों में प्रथम बैठने के आसन्, फिर आगे और पीछे झुकने के आसन, फिर विपरीत स्थिति के फिर लेटने के आसन और अंत में खड़े होकर करने के आसन, यह क्रम बहुत लाभदायक होता है, परन्तु

कुछ लोग इससे एकमदम उल्टा क्रम भी लेते हैं। आसनों को क्रम व्यक्ति अपनी सुविधा के अनुसार रख सकता है। आसनों का क्रम कौन सा रहे इस संबंध में एक उपयुक्त नियम या सिद्धांत यह है कि क्रम ऐसा हो जिसमें शरीर के उन्हीं अंगों पर एक ही दिशा में लगातार तनाव या दबाव न आवे और उसमें बदलाव आते रहें। कुछ लोग प्रत्येक व्यायात्मक आसन के बाद कुछ देर तक शवासन में लेटने को कहते हैं तथा प्रत्येक आसन के बाद उसके विपरीत स्थिति या 'काउन्टर पोज' लेने को कहते हैं, जैसे शीर्षसन के बाद थोड़ी देर तक खड़े रहना । इसकी वास्तव में कोई आवश्यकता नहीं है।

11. प्रारंभ करने पर

किसी समझदार और जानकार शिक्षक से जो स्वयं योग व्यायामों का अभ्यास करता हो, योग सीखकर उसका अभ्यास करें । प्रत्यक्ष में आरंभ करने के पूर्व किन बातों का विचार करना चाहिये, योग की पूर्व तैयारी किस प्रकार करनी चाहिये, इसका वर्णन ऊपर कर चुके हैं। अब प्रत्येक अभ्यास करने में किन बातों की सावधानी रखनी चाहिये इसकी कुछ चर्चा करेंगे। अन्य व्यायाम, अर्थात् सश्रम व्यायाम करने के बाद यदि आसन किये जाने हों तो करीब पाँच मिनट का विश्राम पर्याप्त होगा । यदि प्राणायाम करना हो तो तब तक रूकना आवश्यक होगा जब तक श्वसन क्रिया सामान्य नही हो जाती इसके लिये दस–पंद्रह मिनट लग सकते है।

योग व्यायामों में कभी जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये आसानों में धीरे–धीरे क्रमशः विविध अवस्थाओं में से जाकर अंतिम स्थिति या आसन की परिपूर्ण स्थिति लेनी चाहिये, एकदम से नहीं। खासकर विपरीत करणी, हलासन, शीर्षसन, सर्वागासन, भुजंगासन आदि में यह नियम विशेष प्रकार से लागू होता है। योग व्यायामों में हमेशा इस बात का ध्यान रहे कि शरीर के किसी अंग पर, जोड़ पर या मांसपेशी पर अधिक तनाव नहीं आना चाहिये ।

प्रत्येक व्यक्ति को कुछ आसन सरल लगते है, कुछ कठिन मालूम होते है। कठिन लगने वाले आसनों को धीरज रखकर और शांतिपूर्ण रीति से करना चाहिये अपनी स्वाभाविक मर्यादा से अधिक किसी भी अभ्यास को नही करना चाहिये । यदि किसी कारण से अभ्यास छोड़ देना पड़े तो पुनः उसको यथाशीघ्र, निश्चय के साथ आंरभ करना चाहिये ।

पुनः आरंभ करते समय अभ्यास की मात्रा जैसे आसनों का या पूरक रेचक का समय कम रखें और प्रतिदिन क्रमशः बढाते हुये कुछ दिनों बाद अभ्यास की पूर्व मात्रा करने लगें । किसी रोग को दूर करने के लिये जब योग का अभ्यास करना हो तो अधिक सावधानी और सतर्कता की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार सावधानी से और अपनी मर्यादा के भीतर सुव्यवस्थित रीति से लगन के साथ, निष्ठा और नियमपूर्वक प्रतिदिन थोड़ा सा भी योग का अभ्यास कोई व्यक्ति करें तो उससे महान फल मिलते है, इसमें कोई संदेह नहीं ।

अध्याय–2

योग का अर्थ

योग संस्कृत भाषा का एक प्राचीन काल से प्रचलित शब्द है। योग, योगम, योगे, योगेने, योगै आदि इस शब्द के अनेक रूप वेदों की सहिताओं में पाये जाते है। पाणिनी के योग शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार युजिर योगे एवं युजसमाधौ इन दो प्रकार से दी है प्रथम में प्रयोग किया गया है जैसे– जोड़ना मिलाना जोड़ मेल, कोई विशेष प्रसंग नक्षत्र तारिकाओं की कोई विशेष स्थिति आदि ।

एक दूसरे अर्थ में भी योग शब्द संस्कृत भाषा की युज धातु से निष्पन हुआ है। जिसका अर्थ जोड़ना, मिलाना और नियंत्रण करना होता है। यह शब्द अंग्रेजी भाषा के योक और जर्मन भाषा के ''जोक'' तथा लेटिन भाषा के जग्गो शब्द से संगत करता है अतः योग का अर्थ मिलन और नियंत्रण है। यह शब्द मानव और ईश्वर की मिलन की ओर इंगित करता है। कुछ अर्थात् व्यक्तिगत सत्ता का सर्वोपरि सत्ता से मिलन है, और प्रत्येक चर और अचर सर्व का सर्वशक्तिमान से मिलन है। इसका अर्थ है व्यक्ति के मन का उसकी आत्मा से मिलन होना ।

वेदों में योग का स्वरूप

योग भारत वर्ष की अमूल्य सम्पत्ति है। दर्शन शास्त्र महर्षियों की योग विद्या का ही चमत्कार है, वेद, उपनिषद, स्मृति, पुराण, चिकित्सा, ज्योतिषी आदि शास्त्र समस्त विधाएं योग अभ्यासजन्य ही है। अतः आर्य जाति के समस्त साहित्य में योग का मुक्तकंठ से गुणगान किया गया है। एकाग्रता समाधि तथा योग ये तीनों शब्द एक ही अर्थ के प्रतिपादक है। विचार किया जाए तो संसार का कोई भी ऐसा कार्य व्यवहारिक या परमार्थिक नही है जो बिना चित्त की एकाग्रता के सम्पन्न हो सकता है।

वेदों का अध्ययन भारतीय दर्शन और धर्म बाडमय की उत्कृष्ट शिक्षा का प्रथम चरण माना गया है वेदों की विषय सामग्री मंत्रों के माध्यम से प्रस्तुत की गई है

जो सपूर्णतः योगमय है। वेदों में योग का अध्ययन करने से पूर्व वेद क्या है यह हम देखेंगे ।

वेद का अर्थ

वेद क्या है ? इसका उत्तर वेद शब्द के अर्थ से भी स्पष्ट होता है। वेद शब्द (ज्ञानार्जन) विद धातु से बना है जिसका अर्थ है ज्ञान । वस्तुतः वेद ज्ञान के भंडार है कितु कैसा है यह ज्ञात यह कोई सामान्य बौद्धिक ज्ञान नहीं है यह ऐसा ज्ञान है जिसका ऋषियों ने तपस्या के द्वारा साक्षात्कार किया है अभय ज्योति के रूप में इस ज्ञान का साक्षात्कार कर इसे ही उन्होंने शब्दों द्वारा मंत्ररूप में प्रकाशित किया । इन्हीं मंत्रों के संकलन वेद के नाम से विख्यात है। वेद समस्त गेय (ज्ञान) के आधार माने जाते है इसलिये वेदों को प्रायः ग्रंथ न मानकर संपूर्ण ज्ञान का आधार माना जाता है।

वैसे वैदिक मंत्रों से मुख्यतः विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करने के लिए तथा उनके द्वारा अपने दुख दूर करने की स्तुतियाँ की गई है।

वेदों की संख्या

सामान्यतः वेदों की संख्या चार मानी जाती है (1) ऋगवेद (2) यजुर्वेद (3) सामवेद (4) अथर्ववेद

किन्तु गीता में वेदत्रयी के आधार पर कुछ लोग अर्थर्ववेद की गिनती वेदों में न करके शेष तीनों को ही वेद मानते है। कुछ विद्वान ऐसे से जिनके अनुसार वेद एक ही है इनके अनुसार वेद में संकलित मंत्रों की प्रकृति और विषय के आधार पर उनका अलग–अलग नामकरण कर दिया गया है।

ऋग्वेद मुख्यतः स्वर्ग के देवताओं की स्तुति से संबंधित दिव्य मंत्रों के प्रमुख ग्रंथ है। यजुर्वेद का विभाजन कृष्ण शुक्ल पक्ष में किया गया यजुर्वेद में गद्य और पद्य में प्रधानतः यज्ञ के सूत्र है जो यज्ञ आदि के समय में गाये जाते है या पढ़े जाते है सामवेद में अधिकांश पर्व ऋगवेद से लिये गये है । उन्हें यज्ञ आदि में गाने के लिये संगीत बद्ध किया गया है अर्थर्ववेद मुख्यतः जादू–टोना और झाड फूंक के पदों से पूर्व

है। प्रत्येक वेद के चार भाग होते है जिन्हें संहिता, ब्राह्मण, आरण्य तथा उपनिषद कहा जाता है।

वैदिक संहिताओं का अध्ययन करने पर हमें ज्ञात होता है कि इसका स्वरूप यज्ञमय अथवा स्तुतिमय है प्राचीन व्याख्याओं के अनुसार वैदिक रचनायें आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक इन तीनों ही अर्थों पर प्रकाश डालते है परन्तु वेदों के मूल तात्पर्य आध्यातमिक अर्थ ही है इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेदों में जो भी वर्णन है उसमें चैतन्य शक्ति के विभिन्न स्वरों का साक्षात्कार अथवा आत्मसाक्षात्कार की विधि को प्रेरित करने वाले वचन है।

वेदों में योग

ऋग्वेद में योग शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है जो इस प्रकार है।

''हे इन्द्र'' हमने अभी तक जो प्राप्त नही किया उस सम्पत्ति को पाने में तुम हमारे साथ रहो । तुम अपनी सामार्थ्य से हमारी साधना में साथ दो ।

सं धा नो योग आ भुवत सा राये स पुरध्याम।
गम द्वाजेभिरासनः।। ऋगवेद म. 9/5/7

ऋगवेद के अनुसार योग शब्द का अर्थ में सरस्पति देव (अग्नि देवता) से यजमानों की प्रार्थनाओं या विचारों में विराजमान रहने को कहा गया है । यहां पर योग शब्द का अर्थ अग्नि देव को प्रार्थनाओं या विचारों में मिलने से लगाया गया है।

यस्मादते न सिद्धयति यज्ञो विनश्चितश्चन स धी नां योगा मिवन्ति।

ऋगवेद मंडल 1/18/7

योग शब्द का अर्थ ऋगवेद में विज्ञ लोग पुरोहित एवं यजमान अपने मन को केन्द्रित करते है और प्रार्थंनाओं को विज्ञमहान (सविता) में लगाते है। जो सभी

प्रार्थनाओं को जानने वाला है यहां पर योग शब्द का अर्थ मन को प्रार्थनाओं से जोड़ने के अर्थ में लिया गया है।

मृन्जते मन उत मुन्धते छिपो विप्रा विप्रस्थ बृहतो विपश्चितः।

ऋगवेद 5/81/ 110

योग का अर्थ जो पहले से प्राप्त न हो उसे प्राप्त करने के अर्थ में लिया गया है अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति करना ही योग है।

इन्द्र वयं महायन इन्हेमेम हवामेह युज बृत्रेषु वज्रिणम ।

ऋगवेद. 1/7/5/6/612

कुशल वीरों सहित सेना से युक्त हुये तुम्हारी सहायता से अपने शत्रुओं को वशीभूत करें । यहां पर युजा शब्द का अर्थ सेना से जुड़ना एवं वशीभूत होने से लिया गया है अर्थात् योग है।

वयं शूरेमिरस्तृमिरिन्द्र त्वया युजा वयम् । सासहयाम वृतन्यतः ।

ऋगवेद – 1/8/4

यजुर्वेद में भी योग शब्द का अर्थ ऋगवेद के समान ही जोड़ने मिलाने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है दूसरे की रक्षा के लिये अत्यंत बलवान धर्मात्मा पुरूष को राजा मानते है। वे सब विघ्नों से अलग हो के सुख की उन्नति कर सके। योग पर परस्पर आपस में मिलने को ही योग कहा गया है।

योगे योगे तवस्तंर बाजे वाजे हवामहे । सवाय इन्द्रभूतये ।

ऋगवेद 11/14

आगे कहा गया है कि जो मनुष्य परमेश्वर की इस सृष्टि में समाहित हुये योगाभ्यास और तत्व विद्या को यथाशक्ति सेवन करे, उसमें सुन्दर आत्मज्ञान से प्रकाश से युक्त हुये योग और पदार्थ विद्या का अभ्यास करे तो अवश्य सिद्धियों को प्राप्त हो जावे । यहा भी योग का अर्थ आत्मा को परमात्मा से जोड़ने में लिया गया है।

युक्तने मनसा वयं योगस्य देवस्य सवितुः रखे स्वर्ग्याय शक्त्वा ।।

ऋगवेद– 10/2

अर्थववेद में योग का अर्थ

अर्थववेद में भी योग शब्द का अर्थ विभिन्न प्रकारों से लिया गया है जैसे कहा गया है कि ''सुख का दर्शन कराने वाले 28 नक्षत्र है वे मुझे फल प्रदान करने के लिये समान वृद्धि वाले हो । मैं नक्षत्रों का सहयोग पाकर अलम्प वस्तु की प्राप्ति को सिद्ध करूँ और प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा का सामर्थ्य भी पाऊँ । यहां पर योग शब्द का अर्थ अप्राप्त की प्राप्ति के लिये तथा रक्षा सामर्थ्य के लिये प्रयोग किया है।

अष्टाविशांनि शिवानि शम्मानि सह योग यजन्तु में ।
योग में पथे च प्रपद्ये योगचनमो हारात्रायायस्त।

अथर्व वेद 19/8/2

इसी प्रकार अथर्व वेद में जोड़ने के अर्थ में भी योग शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे– ''भूमि को जोतने हेतु इसमें आठ या छः बैलों के द्वारा जोतने में प्रयोग हुआ है।

इमें यवमष्टायोगेः षड योगेभिरश्चकृषु। अथर्ववेद 6/91/10

इसी प्रकार सरस्वती के साथ में योग का प्रयोग किया गया है ''में सरस्वती देवी से वाणी की सिद्धि मागंता हूँ और अप्राप्त की प्राप्ति करने के अर्थ से युज अर्थात् योग आया है।

सरस्वत्या वाचमुप इतयामहे मनोयुजा। अथर्ववेद – 5/10/80

योग शब्द जोड़ने के अर्थ में विभिन्न प्रकार से प्रयोग किया है। जैसे– ''विजयी संयोग के लिये बृहायोगों अर्थात् परमात्मा के ध्यानों से तुमको मैं जोड़ता हूँ।

जिष्णवे योगाय ब्रहा योगेर्वो मुनजिज्म। अर्थववे – 10/5/2

जो वाणी पहिले और पीछे से संयुक्त है और सब और से सब काल से संयुक्त हैं।'

या पुरस्तात युज्यते । अथर्ववेद– 10/8/10

''चार प्रकार से सटे हुये सिरों वाला दोनो घुटनों से ऊपर जुड़ता है।''

चतुज्य युज्ञयते । अथर्व वेद – 10/2/3

इस प्रकार हम देखते है। कि वेदों में योग को विभिन्न अर्थों में लिया गया है। यहाँ बैलों को गाड़ी से जोड़ने से लेकर मनुष्य एवं ईश्वर के मिलन तक की संज्ञा दी गई है कितु योग की प्रकिया क्या है। इस संबंध में वेदों में अधिक विवेचन नहीं हुआ है। वैदिक दृश्य योग के अर्थ से परिचित है किन्तु उसको जीवन में उतारने की प्रणाली से वे अधिक परिचित नहीं दिखलाई पड़तें ।

वेदों की संहिताओं में परन्तु योग, योगम, योगै, योगेन आदि इन शब्दों के अनके रुप पाये गये। आदि अर्थों में इसके अनुसार योग शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है जैसे–जोड़ना, मिलाना, मेल, एक विशेष प्रसंग, नक्षत्र तारिकाओं की कोई विशेष स्थिति। ऋगवेद में पाये जाने वाले योग शब्द के उल्लेखों से एक बात तुरंत स्पष्ट हो जाती है कि जिस अर्थ में आज हम योग शब्द का सामान्यत प्रयोग करते है जैसे कि आसन, प्राणायाम, ध्यान धारणा के मेल अर्थ में उस अर्थ में ऋगवेद में योग शब्द मेल नहीं खाता योग शब्द के वर्तमान समय के अर्थ को यदि हम तकनीकी अर्थ कहे (समाधि) तो इस में योग शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में नही किया गया है वहां पर योग शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया गया है इसी प्रकार के अर्थो को लेकर यजुर्वेद और अथर्वेद में भी वर्णन किया गया है।

उपनिषदों में योग

किसी न किसी रुप में उपानिषदों में योग का निरुपण किया गया है । सभी उपनिषदों में योग की प्रधानता मानी गयी है। उपनिषदों को आध्यात्मिक ग्रंथों में अग्रणीय स्थान प्राप्त है। योग को मुक्ति प्राप्ति का साधन माना गया है। योग विद्या का उपनिषदों में विस्तार से विवेचन किया गया है। उपनिषद वेद के अंतिम भाग है इसलिये उन्हें वेदांत कहा जाता है। उपनिषदकारों ने योग का अर्थ निम्न प्रकार से लिया है–

तां योगमिति मन्यते स्थ्रिामिन्हिय धारणाम् ।
अप्रमन्तरूत्तदा भवति योगो हि प्रमवाप्ययौ।।

कठोपनिषद–2/3/11

अर्थ– पंच इन्द्रियों मन एवं बुद्धि की स्थिर अवस्था को योग कहते है। उसको प्राप्त करने पर मनुष्य संपूर्ण रीति से दोष रहित हो जाता है।

मनः प्रशमनोयामो योग इत्यामिधीयते। महोपनिषद – 5/42

अर्थ– मन को शांत करने के लिये जो भी अन्याय उपाय किये जाते है (शारीरिक तथा मानसिक) उन सबका अन्तर्भाव योग में किया जा सकता है।

इस प्रकार महोपनिषद में योग को मन को शांत करने के एक उपाय के रूप में प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद में ''रथयोग'' शब्द का प्रयोग रथ को जोड़े हुये घोड़ों के अर्थ में किया जाता है।

न तत्र रथा न रथयोग पन्थानो।। बृहदारण्यकोपनिषद– 4/3/10

इनके अतिरिक्त अन्य उपनिषदों में योग वर्णन है ऐसे 21 उपनिषद है योगराज उपनिषद, अप्रकाश उपनिषद और अन्य अदैयकतारक अमृतनाथ उपनिषद, अमृतबिंदु उपनिषद, मुक्तिक उपनषिद, तेजो बिदु उपनिषद, त्रिसिखी ब्राहमण उपनिषद, दर्शन उपनिषद, ब्रहम विद्या उपनिषद, मंडल ब्राहमण उपनिषद, महावाक्य उपनिषद, योगकुडंली उपनिषद, योग चूडामणि उपनिषद, योग तत्व उपनिषद, योग शिखा उपनिषद, बराह उपनिषद, शांडिल्य उपनिषद, हंस उपनिषद इन सभी उपनिषद में चित्र, चक्र नाड़ी कुण्डलिनी इन्द्रिय आदि, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, लययोग, हठयोग, राजयोग, ब्रहमध्यान योग, प्रणवोपासना ज्ञानयोग तथा चित्त की अवस्थाओं का विस्तृत वर्णन है।

उपनिषदों में मनस्य चित्त विज्ञान चेतस्य चेतना वृद्वि इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। मन और शरीर को आत्मा का माध्यम माना गया है। केवल सर्वव्यापक आत्मा की सत् है। जिसकी सत्ता में संदेह नही किया जा सकता उपनिषदों में जीव और ब्रहम को तादास्यम माना गया है। जीव अज्ञान के कारण बद्ध है आत्मा में वास्तविक रूप से छिपा रहता है। ब्रहम की माया के द्वारा दोनो में विशेष अंतर नही है जब आत्मा के द्वारा अपने आप को शरीर मन, इन्द्रियों से संबंधित होकर अपना सर्वव्यापक स्वरूप भूलकर सांसारिक बंधनों को प्राप्त होकर सुख दुखों से लिप्त हो जाता है परन्तु वास्तव में वह अपना मन इन्द्रियों से परे है जीवन की जाग्रत और सुसुप्ति ये दो ही अवस्थाएं है। आत्मा इन दोनों से भिन्न है।

उपनिषद में शरीर के तीन भेद बतलाये है, सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर एवं कारण शरीर। स्थूल शरीर पंच महा भूतों द्वारा निर्मित है और मृत्यु के बाद उन्हीं में मिल जाता है। सूक्ष्म शरीर भौतिक होते हुये दृष्टिगोचर नहीं होता वह भी मृत्यु के पश्चात् स्थूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। पंच ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों दोनों की क्रियाओं का संचालन मन ही करता है इसका विस्तार का संचालन मन ही करता है इसका विस्तार पूर्व वर्णन वृहदारण्य उपनिषद में 1/5/3 व 4/2/6 में किया गया है।

प्राण, अपान, उदान, ब्यान व समान ये पांच प्राण हैं। इन्हीं पर संपूर्ण जीवन आधारित है। आत्मा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रियाँ मन और पाँच प्राणों सहित मृत्यु के अवसर पर शरीर को छोड़कर अन्य शरीर में प्रविष्ट होता है इससे जीवन काल में किये गये कर्मों का कोश भी संबंधित रहता है और वह भी आत्मा के साथ जाता है और जीव के भविष्य को निर्धारित करता है। उसी के अनुसार अन्य शरीर में प्रवेश कर नया जन्म प्रारंभ होता है।

उपनिषदों में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनंदमय कोषों का सुंदर वर्णन है। इन्हें एक प्रकार का चैतन्य का आवरण जानना चाहिये । आनंदमय

कोष चैतन्य का पहला आवरण है। इसी के कारण मोद प्रमोद रहित आत्मा मोद प्रमोद वाली हो जाती है यही कारणमय शरीर है। इसके साथ वाले आवरण को विज्ञानमय कोष जो दूसरा आवरण है जिसके फलस्वरूप अहंकार एवं बुद्धि के कारण आत्मा अभिमानी हो जाती है यही कारण इसका गुण विशेष है।

मनोमय कोष मन ज्ञानेन्द्रियों और तन्मात्राओं का आवरण है जिसके चढ़ जाने से आत्मा मनोमय कोष कहलाता है इसके कारण मूल रूप का विस्मृत होकर शोक, मोह युक्त आत्मा हो जाती है इसी में इच्छा शक्ति विद्यमान है।

प्राणमय कोष पंच कर्मेन्दियों व पाँच प्राणों का आवरण है जिसके फलस्वरूप व्यक्तित्व पर दायित्व गति, क्षुधा, पिपासा आदि विकार प्रकरण होते हैं । विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय तीनों को सूक्ष्म शरीर कहते हैं। तीनों के साथ आत्मा को तेजस कहते हैं अन्नमय कोष पांचवा स्थूल आवरण है । जो अन्न से बने रज और वीर्य से बढ़ता है इसी के कारण आत्मा मृत्यु जन्म वाली होती है।

पंच कोषों का वर्णन तैत्रीय उपनिषद में विस्तारपूर्वक किया है। दूसरे अध्याय के (1) से लेकर (6) श्लोक तक इन पंचकोषों के अतिरिक्त तीन अवस्थाओं का भी उपनिषदों में विषय विवेचन है। अन्नमय कोष जागृत अवस्था के अनुरूप, प्राण, विज्ञान, मनोमय, स्वप्न अवस्था के अनुरूप आनंद मय सुषुप्ति के अनुरूप है इसी अवस्था में जीव ब्रह्म से अस्थाई संयोग होता है। पर जागृत अवस्था आते ही जीव फिर से वासनाओं में बंध जाता है इसका विवेचन प्रश्न तथा छांदोग्य उपनिषद में है। उपनिषद एक ही आत्मा की सत्ता मानते है जो ब्रह्म से जानी जाती है। मन शरीर चेतना रहित है आत्मा चेतन सत्ता है शरीर परिवर्तन शील है मन भौतिक है।

वेद के दो प्रधान विभाग है मंत्र और ब्राह्मण मंत्रों के संग्रह का नाम संहिता है। मंत्रों के विनियोग आदि विषयों को बतलाने वाले ग्रंथ को ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मणों का अंतिम भाग बहुधा आरण्यक होता है। आरण्यकों का अंतिम भाग बहुधा उपनिषद होता है। उपनिषद का मुख्य अर्थ ब्रह्म विद्या है और यहा ब्रह्मविद्या

ही प्रतिपादक ग्रंथ विशेष है । उनमें अधिकतर वेदों में बताई गई आध्यामिक विचारों को समझाया गया है इन्हीं को वेदांत कहते हैं तथा इसका अर्थ रहस्य या गुप्त उपदेश होता है।

उपरोक्त विवरणों से सिद्ध होता है कि प्राचीन उपनिषदों में भी योग के प्रत्येक अंग का विवरण मिलता है तथा प्रत्येक उपनिषद में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से योग का थोड़ा बहुत विवरण अवश्य ही आया है उपनिषद हमारे मोक्षशास्त्र के परमाधार है। योग का इतना भारी किला उपनिषद के योग की नींव पर खड़ा है। उपनिषद वेदांत है वेद का सारभूत निचोड़ है। अतः उपनिषदों का तात्पर्य योगानुष्ठान पूर्वक ही मुक्ति प्राप्ति से है ऐसा कोई मार्ग मोक्ष साधन का नहीं है जिस मार्ग में योगागों की आवश्यकता न पड़ती हो इसलिये जिस प्रकार 'दूध में धृत' समाता है। उसी प्रकार उपनिषदों में योग समाया हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे श्रुतिकार भी योग शब्द से परिचित है और उन्होंने इस शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। ऋग्वेद संहिता से लेकर उपनिषदों तक योग शब्द से संबंधित चर्चा होती रही है इसीलिये श्रुतियों में योग शब्द के विभिन्न अर्थ किये गये हैं । बैलों की गाड़ी से मिलाने से लेकर मनुष्य के चित्त की वृत्तियों को शांत करने की प्रक्रिया तक लिये योग शब्द का प्रयोग हुआ है इसीलिए बाद में आने वाले सूत्रकारों ने योग शब्द के महत्व को समझा और उसको जीव के समस्त दुखों को नाशक मान लिया ।

योग वशिष्ठ (महारामायण) में योग का स्वरूप

यह महारामायण भारत वर्ष के आध्यात्मिक ग्रंथों में बहुत उच्चकोटि का ग्रंथ है इसमें वशिष्ठ ऋषि द्वारा श्री रामचंद्र जी को दिये हुये आध्यात्मिक उपदेश का बहुत सरल भाषा में वर्णन है इसके दार्शनिक सिद्धांत बहुत सूक्ष्म व गहन हैं। अद्वैत वेदांत के अनेक लेखकों ने इन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है । कुछ विद्वानों ने

इसके श्लोकों को संग्रह करके उपनिषदों के नाम से भी प्रकाशित करवाया है इसमें 3200 श्लोकों का 6 अध्याय वैराग्य मोक्ष व्यवहार उत्पत्ति, स्थिति, उपसम तथा निर्वाण के अंतर्गत वर्णन है जिसे हम संक्षेप में निम्न शीषकों के अंतर्गत देख सकते हैं।

1. योगवशिष्ठ में योग का अर्थ

सांसारोक्त्रयण युक्ति योग शब्देन कथ्यते। योगवशिष्ठ– 6/3/3

संसार से पार होने की युक्ति को योग वशिष्ठ में योग कहा गया है।

2. योग का आदर्श

योग द्वारा मनुष्य अपने असली सच्चिदानंद रूप का अनुभव करता है। योग का ध्येय तुरीय नामक परम अवस्था की स्थिति है जिसमें परम आनंद का निरंतर अनुभव होता रहता है।

3. योग की तीन रीतियाँ

1. एकत्व की दृढ़ भावना

2. मन की शांति

3 प्राणों में स्पंदन का निरोध

इन्हें योग की तीन रीतियाँ कहा है तथा इनमें से किसी एक पद पर चलने से तीनों की सिद्धि हो जाती है । इसमें प्राण के निरोध की अपेक्षा मन को शांत करना या तत्व का दृढ़ अभ्यास सबसे सरल है।

4. मनोलय

योगवशिष्ठ के अनुसार मन ही संसार को उत्पन्न करने वाला और चलाने वाला है । मन के शांत हो जाने पर जीवन में परम शांति आ जाती है और संसार का अनुभव क्षीण जान पड़ता है । मन के शांत हो जाने पर जीव ब्रह्म तत्व को प्राप्त हो जाता है। प्राणों का स्पंदन भी रूक जाता है। मन संसार रूपी माया चक्र की नाभि है इस नाभि को बल और बुद्धि द्वारा घूमने से रोक लेने पर संसार चक्र की गति

रूक जाती है । मन को जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है मन के नाश होने पर संसार का इस प्रकार लय हो जाता है जैसे कि घट के नाश होने पर घटाकाश नष्ट हो जाता है। संसार रूपी दुख से मुक्त होने का उपाय केवल मन को निग्रह करना है इसी युक्ति द्वारा मनुष्य को परम शांति का अनुभव होता है मन ही स्थूल होकर परिमित जीव हो जाता है। मन सूक्ष्म और विस्तृत होकर ब्रह्म हो जाता है जिन कारणों द्वारा मन स्थूलता को प्राप्त होकर दुख भोगता है वे ये हैं– अनाथ वस्तु में आत्मभाव, स्थूल देह में स्थित स्त्री, पुत्र और कुटुम्ब से ममता, मेरा तेरापन, बुढ़ापे में मौत से भय, संसार से सुख की आशा, किसी वस्तु की प्राप्ति और किसी वस्तु के त्याग का यत्न भोगों की तृष्णा और विषयों के भोगों में फंसना।

मन को शांत करने के उपाय

बिना उचित उपाय के मन को जीतना कठिन है। जो लोग ठीक युक्तियों या उपायों को छोड़कर हठपूर्वक मन का जीतना चाहते हैं उनकी उनेक क्लेश और भय प्राप्त होते है। वशिष्ठ जी ने मन को शांत करने की निम्न रीतियां बताई है।

1. ज्ञान मुक्ति
2. संकल्प त्याग
3. भोगों से विरक्ति
4. वासना त्याग
5. अहं भाव का नाश
6. असंग का अभाव
7. कर्तव्य भाव का त्याग
8. सर्वत्याग
9. समाधि का अभ्यास
10. लय क्रिया

प्राण निरोध (प्राणों के स्पंदन का निरोध)

जैसे पंखे का हिलना बंद हो जाने पर हवा का चलना बंद हो जाता है उसी प्रकार प्राणों के स्पंदन रूक जाने पर भी मन शांत हो जाता है और मन के शांत हो जाने पर ध्यान का अभ्याय किया जाता है।

प्राण निरोध के उपाय

प्राण क्या है? प्राणों की गति किस प्रकार से होती है? प्राणायाम कैसे किया जाता है? इस विषय की चर्चा योग वशिष्ठ में बहुत विस्तार से है। यहां सक्षेप में उन उपायों को देखेंगे जिनसे कि योग वशिष्ठानुसार प्राणों का स्पंदन रूकता है। ये हैं– वैराग्य, परम कारण का ध्यान, व्यसनक्षय, निरोध की विशेष युक्ति परमार्थ ज्ञान, शास्त्र और सज्जनों का संग, वैराग्य और अभ्यास, दुख हरने वाले पूरक आदि प्राणायामों का गहरा अभ्यास। ऊँ कार का अभ्यास करते समय शब्द तत्व की भावना बालमूल में स्थित घंटी करे जिव्हा से यत्नपूर्वक दबाकर उर्ध्व रध्रं में प्राण ले जाना और शद्ध सच्चिदानंद में ध्यान लगाना। इसके अलावा प्राण निरोध की और भी अनेक युक्तियाँ है। जिनके अभ्यास से प्राणों का लय तथा मन की क्रिया शांत हो जाती है। और निर्वाण पद ही शेष रह जाता है इसके अतिरिक्त कुंडलिनी विद्या का ज्ञान होने पर उसे जागृत करके योगी को अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती है। इसका भी सविस्तार वर्णन योग वशिष्ठ में है।

योग की सात भूमिकाऐं

संसार के अनुभव ये मुक्ति पाने और परमानंद का अनुभव प्राप्त करके के योग नामक मार्ग की योग वशिष्ठ में सात भूमिकायें हैं । जिन्हें प्रयत्नशील जीव थोड़े समय में और अप्रयत्न शील जन्म–जन्मातंरों में पार कर पाते है । सातों भाूमिकाओं के अंत में मुक्ति है, जिसे पाने पर दुख नहीं रहता। शुभेच्छा, विचारना, तनुमानसा, स्त्वापत्ति, असंग शक्ति, पदार्थ भावनि, तुर्यगा से सात भूतिकायें हैं ।

गीता में योग

भारत वर्ष में योग साहित्य पर अनेक सामग्री है। केवल योग पर ही विभिन्न भाषाओं में अनेक ग्रंथ लिखे गये है। वेद, उपनिषद, बाह्मण ग्रंथ इतिहास पुराण आरण्यक सभी योग की व्याख्या एवं विवरण प्रस्तुत करते है किन्तु भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण के मुख से कथत होने के कारण सर्वाधिक महत्वपूर्ण योग शक्ति से युक्त है। यह कल्याणप्रद और मध्ययाकार का अत्यंत पवित्र एवं प्रभावशाली ग्रंथ है इसके श्लोक बड़े सुन्दर भव्य अनेक अलंकारों से युक्त है। थोड़ी भी संस्कृत भाषा जानने वाले इसे सरलता से समझ सकते है पढ़ते समय पद पद पर योग के द्वारा भगवत साक्षात्कार का ही आनंद प्राप्त होता दिखता है।

भगवद गीता में तीन विभिन्न प्रकार से योग को परिभाषित किया गया है जो कि सर्वाधिक और प्रचलित मान्य है। भगवद्गीता जो कि महाभारत का एक अंग है वास्तव में संपूर्ण योग ग्रंथ ही है। भगवद्गीता ने मुक्ति प्राप्ति के तीन साधनों को ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग के नाम से पुकारा है यह तीन विभिन्न साधन होते हुये भी मनुष्य को एक ही लक्ष्य पर जे जाते है।

भगवद गीता के 700 श्लोकों में योगी, युक्तः, युजननं, योगयज्ञ, साख्ययोगी, इत्यादि युज धातु से बने शब्द एवं इनके साथ समस्त पद 118 बार आये है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अध्याय की सामप्ति पर अध्याय का नाम किसी न किसी योग से संयुक्त किया गया है। आत्मा, अहम्, बुद्धि, योग यही चार शब्द एवं इनके प्रकार विकार गीता में अनेक प्रकार से कहे गये है। गीता में इस सत्य का समर्थन किया गया है कि चंचल अथवा असंयत मन द्वारा परमात्म साक्षात्कार असंभव है इसके विपरीत सयंत मन वाला व्यक्ति सुगमता से आत्म साक्षात्कार कर सकता है।

असंयतात्मना योगे दुष्प्राय इति में मतिः
वरयात्मना तुं यात्रता शक्योडवात्तुमु पायतः।। गीता 7/36

अर्थ– जिसका मन बस में नहीं किया गया है। ऐसे पुरूष द्वारा योग दुष्प्राय है एवं बस में किये हुये मन वाले पुरूष द्वारा साधना से उसको प्राप्त होना सहज है।

इस प्रकार शांत चित्त में ही योग अनुभव के अधिकार का प्रतिपादन कर गीता में योगाभ्यास का आदेश देते हुये कहा गया है कि–

शुचौ देशे प्रष्ठिाव्य स्थिरमासनमात्वनः।
नाव्युच्छिंत नाति नीचं चैलाजिन कुशोत्तरम ।।

चित्त की क्रियाओं को बस मे करते हुये एकाग्रमन तथा अंतःकरण की शुद्धि के लिये योगाभ्यास करें ।

योग प्रक्रिया में लिप्त भगवदगीता के दूसरे अध्याय मे कर्मों के संदर्भ में अर्जुन को उपदेश देते हुये कहा है कि –

योगस्थः कुरू कर्माणि सग्ड़ त्यक्त्वा धनज्जय।
सिद्धय सिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योग उच्चयते।। गीता 2/48

अर्थात् – हे धनज्जय ! तू आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धिवाला होकर योग में स्थित हुआ कर्त्तव्य कर्मो को करना ही समत्व योग कहलाता है इसी को समत्वभाव योग कहा गया है।

दूसरे स्थान पर कहा गया है कि योग कर्मों में कुशलता है। अर्थात् कर्मबंधन से छूटने का उपाय है।

बृद्धि युक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। गीता 2/50

अर्थ– समबुद्धि युक्त पुरूष पाप और पुण्य दोनों को इसी लोक में त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है इसमें तू समत्वरूप से योग में लग जा यह समत्व रूप ही कर्मो में कुशलता है। अर्थात् कर्म बन्धन से छूटने का उपाय है।

इसके पश्चात् गीता मे आगे उन्होंने अर्जुन को उपदेश देते हुये कहा है कि जो व्यक्ति इस भंवर रूपी संसार चक्र में धैर्य के साथ रहता है वही योगी है इस प्रकार योगी का लक्षण बताया गया है।

तं विद्याद द्ःुख संयोग वियोग योग संज्ञितम ।

स निज्जयेनं योक्तव्यो योगोडनिर्विण्णचेतसा ।। गीता 2/23

अर्थात् – जो दुःख रूप संसार के संयोग से रहित है तथा जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये । वह योग न उकताये हुये अर्थात् धैर्य और उत्साह युक्त चित्त से निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।

आगे योगी के लक्षण बताते हुये वर्णन किया गया है कि उसे किस अवस्था में अभ्यास करना चाहिये उसे किस प्रकार का आहार बिहार, रखना चाहिये जिससे उसे यह योग सिद्ध हो सके।

समं कायशिरोग्रीवं धारयत्तचलं स्थिरः ।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं ढवं दिश.न वलोकयन् ।।

अर्थात् – काया सिर और गले को समान एवं अचल धारण करके स्थिर होकर अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमा कर स्व की दिशा का अवलोकन करें ।

युज्जनेन्व सदात्मानं योगी नियतमानसः ।

शांति निर्वाण परमां मत्सस्थामधिगच्छति।। गीता 6/15

अर्थात्– बस में किये हुये मन वाला योगी इस प्रकार आत्मा की निरंतर मुझे परमेश्वर स्वरूप में लगाता हुआ मुझे में रहने वाली परमानंद की पराकाष्ठा रूप शांति को प्राप्त होता है।

नात्यश्रतस्तु योगीडस्ति न चैकान्तमनश्रतः ।

न जाति स्वन्पशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जनः।। गीता 6/16

अर्थ हे अर्जुन यह योग न तो बहुत खाने वाले को, न बिल्कुल खाने वाले को, न बहुत सोने वाले स्वाभाव को और न सदा जागने वाले को ही सिद्ध होता है।

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्रावबोधस्य योगी भवति दुःखाहा।। गीता 6/17

अर्थ– दुखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार– बिहार करने वाले को कर्मो में यथायोग्य चेष्टा करने वाले को और यथा योग्य सोने तथा जगने वाले को ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार श्री कृष्ण ने गीता में अर्जुन को जो योग का ज्ञान प्रदान किया उसमें सर्वश्रेष्ठ और उच्चकोटि का ज्ञान देकर योग के मार्ग में अवगत कराया तथा किस व्यक्ति को योग सिद्ध होता है इन सभी गुणों का संपूर्ण वर्णन भी योग में किया है और आगे कहा है–

ओमित्येकाक्षंर ब्रहना व्याहरन्मामनुसारन् ।
यः प्रयाति व्यजन्देह स याति परमां गतिमं ।। गीता 8/13

अर्थ– योगधारणा में स्थित होकर जो पुरूष ऊँ इस एक अक्षर रूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ र्निगुण ब्रह्मा का चिंतन करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह पुरुष परम गति को प्राप्त होता है।

इस प्रकार गीता में दिया गया ज्ञान का उपदेश संपूर्ण रूप से योग के विभिन्न रूपों से परिपूर्ण हैं । इसलिये 'समत्वं योग उच्चते', कहा गया है संपूर्ण गीता पर दृष्टि पात करने पर यह विदित होता है कि गीता में कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग का सुन्दर समन्वय है तथा यही गीता का मुख्य उपदेश या योग है इसके मतानुसार प्रथम 6 अध्याय में कर्मयोग, मध्य 6 अध्याय में भक्तियोग, अंतिम 6 अध्याय में ज्ञानयोग का वर्णन है।

ब्राह्मण ग्रंथों में योग का अर्थ

वेदों की संहिता भाग के पश्चात् ब्राह्मण ग्रंथों की रचना हुई है ऐसा विश्वास किया जाता है कि ब्राह्मण ग्रंथों की रचना का आधार संहिता भाग ही है, क्योंकि जिस कर्मकाण्ड की ओर संहिता भाग में संकेत किया गया है, उसका विशद वर्णन ब्राह्मण ग्रंथों में आता है । ब्राह्मण ग्रंथों के रचयता योग शब्द से परिचित थे, उन्होंने योग शब्द का निम्न प्रकार का अर्थ किया है जो इस प्रकार है–

तां वे युगसभ्येन विभीमीते ।

युगेन यत्र हरन्ति शंभ्यया यतो हरन्ति।।

शतपथ ब्राह्मण– 3/5/1/24

अर्थात् : वह मन को हवनकर्म में लगाता है और बुद्धि को भी लगाता है । इस तरह मन, बुद्धि और वाणी से यज्ञ को बढ़ाया जाता है ।

इस तरह यज्ञमान मन, वाणी और कर्म से ईश्वर को प्राप्त करता है अतः मन को ईश्वर में (यज्ञ) लगाना ही ईश्वर से तादात्म करना ही योग है ।

स जहोति युज्जते मन उत युज्जतेहियः।

इति मनसा च वे चा यज्ञ तन्वते।।

शतपथ ब्राह्मण– 3/5/1/11

इसका अर्थ भी ब्राह्मण ग्रंथों में मन और यज्ञ कर्म से ही लगाया है । तथा दूसरी जगह पर विभिन्न प्रकार से वर्णन किया है जो निम्न प्रकार से है–

ता वे युगया ही वा सर्वतः करोति

यज्ञमानस्य व दश दश पदानि।।

शतपथ ब्राह्मण – 3/5/1/34

अर्थात् जिस प्रकार शरीर के मध्य में नाभि रहती है तथा नाभि से सभी नस नाड़िया जुड़ी रहती है उसी प्रकार मानव जीवन यज्ञ के साथ जुड़ा रहता है ।

अर्थात् ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञ के साथ जुड़े रहने को योग कहा गया है एवं उसी से मोक्ष प्राप्त होता है । ब्राह्मण ग्रंथों के पश्चात् अरण्यक ग्रंथों की रचना हुई किन्तु ये ग्रंथ आज सहज उपलब्ध नहीं है । आरण्यक ग्रंथों में प्रतिपादित ज्ञानमार्ग उपनिषदों में फलित हुआ है ।

स्मृतिकारों की दृष्टि में योग का अर्थ

स्मृतिकारों ने भी अपने दृष्टिकोण से योग की विभिन्न परिकल्पनाएं दी है। उन्होंने योग का अर्थ, आत्मा का परमात्मा से मिलन, तथा अगूठे और अंगुली के

स्पर्श को योग की संज्ञा दी है जिन्हें नीचे विभिन्न सूत्रों के माध्यम से नीचे स्पष्ट किया गया है ।

योगययेन विक्रीतं योग दान प्रतिग्रहम ।

यत्र वाप्यपधिं पश्येत्ततर्त्सव विनिवत्तयेत।।

मनुस्मृति – 8/115 मणिप्रमा

मनुस्मृति में योग शब्द का अर्थ छल से लिया गया है । जिसका वर्णन उपरोक्त सूत्र में किया गया है ।

संयोग योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनो। याज्ञवल्लक स्मृति–1/44

याज्ञवल्लकय स्मृति में जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग की संज्ञा दी है ।

परमात्मनि एकीकृत्य विमुच्येत योगी यं मुख्य उच्यते।

दक्षस्मृति–7–15

दक्षस्मृति में भी योग शब्द का अर्थ जीवात्मा और परमात्मा के संयोग के संदर्भ में लिया गया है ।

तर्जन्यगष्ठयोगेन स्पर्श–नासापुटद्गयम ।

अडष्ठमध्यायोगेन स्पृशे–नेत्रद्वय ततः।।

शंखस्मृति आचमनविधि वर्णन 10/7

शखंस्मृति में तर्जनी अंगुली और अंगूठे से दोनों नासापुटों को उपस्पर्श करे, और अगुंष्ठ और मध्यांगुलि के योग से नेत्रों का स्पर्श करें ।

यहां पर अगुष्ठ और अंगुली के मिलाने को योग तथा इनके द्वारा स्पर्श करने को योग कहा गया है ।

इसके पश्चात् स्मृतियों की रचना से भी विदित होता है कि योग प्रारंभ से पृथ्वी पर विद्यमान था तथा इसका उत्पत्तिकर्त्ता उन्होंने हिरण्यगर्भ को बताया है।

हिरण्यगर्मो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ।।

योग विद्या सृष्टि के प्रारंभ से ही विद्यमान थी इस कल्पना का उल्लेख हमे ऋग्वेद के दसवे मंडल में मिलता है जिसमें कहा गया है कि हिरण्यगर्भ से सृष्टि का निर्माण हुआ और उसी ने पृथ्वी स्वर्ग आदि सभी को धारण किया इसलिये हिरण्यगर्भ को योग का उत्पत्तिकर्ता कहा गया है ।

पुराणों में योग

पुराणों में योग का कुछ न कुछ उल्लेख अवश्य मिलता है इससे यह ज्ञात होता है कि पुराणों के रचना काल में योग साधना जन जीवन में व्याप्त थी, इसी कारण विभिन्न पुराणों में अनेक स्थानों पर यौगिक क्रियाओं का उल्लेख हुआ है । शिव से संबंधित अनके पुराण जिनमें शिव, वायु, ब्राह्मण, स्कन्द आदि प्रमुख हैं । आधे से अधिक स्थल मात्र यौगिक क्रियाओं से संबंधित है श्रीमद् भागवत पुराण में भी अनेकत्र योग की चर्चा पायी जाती है । अनेक ऋषि मुनियों के चरित्र में योग साधना का वर्णन है। नारद तो योगी थे ही, वृत्र पे मृत्यु के समय भगवान के चरण कमलों में ध्यान लगाकर समाधि द्वारा अपने प्राण का त्याग किया । महर्षि दधित्वी ने द्वन्द्व द्वारा हड्डियों का दान मांगने पर लोकोपकार की भावना से प्रेरित होकर इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि का नियमन कर योग का आश्रय लिया जिससे शरीर त्याग के समय उन्हें पता भी न लग सका कि कब प्राणान्त हो गया ।

ब्रह्मचर्य महिमां च सत्यास्तेयापरि ग्रहान ।
सेवेत योगी निष्कामों योग्यतां स्वं मनोनयन्।।

श्रीमद भागवत पुराण 2/2/18

स्वाध्यायशौचसंतोषतपांसि नियतात्मवान ।
कुवीर्त ब्रह्माणि तथा परस्मिन्प्रवणं मनः ।।
एते यमाः सनियमाः पज्च पज्च प्रकीर्तिताः ।

विशिष्ट फलदाः कामे निष्कामाणां विभुक्तिदा।।

विष्णुपुराण 6/7/36–38

अर्थात्– अपने मन को (आत्मचिंतन के) समर्थ बताते हुये निष्काम भाव से योगी ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपररिग्रह का सेवन करें।

अपने मन का निग्रह करके योगी स्वाध्याय, शौंच, संतोष, तप करें और उसी प्रकार पर ब्रह्मा के साथ मन को आसक्त कर दे अर्थात् ईश्वर प्राणिधान करे।

नियमों के साथ–साथ यम पांच की संख्या में बतलाये गये हैं। सकाम भाव से करने पर विशेष फल देते हैं परन्तु निष्काम भाव से करे तो विमुक्ति देते हैं। इसी कारण विभिन्न पुराणों में कुछ न कुछ अंश दिखाई देता है जो निम्न प्रकार से दर्शाया गया है–

न च पदमासनाद्योगो न नासाग्रनिरीक्षणात् ।
मनश्चेहियाणं च संयोगो योग उच्चयते।।

ब्रह्म पुराण–द्वितीय अध्याय 43/28

अर्थात्– मन और इन्द्रियों का जो संयोग होना है। वही वास्तव में योग कहा जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्मपुराण में योग शब्द का अर्थ मन की एकाग्रता से लिया जाता है।

योग शब्देन निर्वाणं महेशं पदमुच्यते ।
तस्य हेतुऋृषेशानिं ज्ञानं तस्य प्रसादतः।।

लिंग पुराण प्रथम खंड 6/5

अर्थात्– योग शब्द के द्वारा निर्माण तुरीय महेश के पद को कहा जाता है उसका हेतु ऋषि भगवान रूद्र का ही ज्ञान होता है और वह ज्ञान भी भगवान शंकर की कृपा से हुआ करता है जिस ज्ञान से संसार सागर से तरण हो जाता है।

अतः यहां पर योग शब्द से जिस निर्माण का बोध होता है। वह महेश पद ही उसका हेतु ऋषियों का ज्ञान और उस ज्ञान की प्राप्ति महेश की कृपा से ही होती है। आगे योग को परिभाषित करते हुये कहा गया है –

सर्वार्थ ज्ञान निष्पत्तिरात्मनो योग उच्चते।

एकाग्रता मवेच्देव सर्वदा तत्प्रसादतः।। लिंग पुराण प्रथमखंड 6 / 30

अर्थ– लिंग पुराण में कहा गया है कि समस्त अर्थो से संबंध रखने वाले ज्ञान की निष्पत्ति ही आत्मा का योग है।

इसी प्रकार आगे देवी भागवतः महापुराण मे कहा गया है कि–

स्वीमान गुणान प्रवीतान प्रवर्दस्त वासो ।

ता प्रेमदामनुचार च योग युक्तः।।

देवी भागवत महापुराण–3 / 15 / 13

अर्थ– देवी भागवत महापुराण में योग शब्द के अर्थ को प्रेम के संदर्भ में लिया गया है और प्रेम के संदर्भ में ही व्याख्या की गई है।

आगे विष्णु पुराण में भी योग शब्द का अर्थ संयोग से अनुमोदित किया गया है जो इस प्रकार से है–

आत्म प्रयत्न सापेक्षा विशिष्टा या मनोगति ।

तस्य ब्रह्मणि संयोगा योग इत्याभि धीयते ।।

विष्णु पुराण–6 / 7 / 31

अर्थ– विष्णु पुराण के अनुसार– बस में किये हुये मन का ब्रह्मा से संयोग होना ही योग है।

आगे मार्कण्डेय पुराण में योग की परिभाषा इस प्रकार से दी है।

ज्ञानपूर्व वियोगोडसौ ज्ञाने नष्टे स योगिनः।।

सा मुक्ति ब्रह्माणा चैक्समनैक्यं पुत्र ते गुणैः।।

मार्कण्डेय पुराण 120 / 9

अर्थ– मार्कंण्डेय पुराण में कहा गया है कि ब्रह्मा के साथ ऐक्य तथा अज्ञान के साथ वियोग का योग कहा गया है।

इसी प्रकार अग्निपुराण[1], कूर्मपुराण[2], स्कंद पुराण[3] और आदित्य पुराण[4] आदि में योग की व्याख्याएं दी गई हैं । जो पतंजलि की परिभाषा चित्तवृत्ति के निरोध के समान अर्थ प्रदान करती है इसलिये हम कह सकते हैं कि विभिन्न पुराणादि ग्रन्थों में थोड़े शब्दान्तर से पंतजलि की परिभाषा को दुहराया गया है।

1. **चित्तवृत्ति निरोधश्च जीव ब्रह्मत्मनोः परः।।**

अग्निपुराण– 372/20

2. **मय्येक चित्ता योगः वृत्तयंतर नियोगतः।।**

कूर्मपुराण उत्तरमान– 11/120

3. **यत्सभत्वं द्वयोरत जीवात्मपरमात्मनोः ।**
स नष्टसर्वसकल्पः समाधिरभिधीयते ।।
परमात्मात्मनोर्योऽयम विभागः परतंपः ।
स एव तु परो योगः समासत्कधितस्तव ।। स्कंद पुराण

4. **योगात संजायते ज्ञानं योगोमय्येकचित्ता ।** आदित्य पुराण

पातंजल योग

अष्टांग योग के प्रवर्तक के रूप में महर्षि पतंजलि का नाम अग्रगण्य है । आत्मसाक्षात्कार या कैवल्य प्राप्ति के लिये जिज्ञासु साधकों के मार्गदर्शक के रूप में महर्षि का योगसूत्र या योगदर्शन एक अदभुत व उत्कृष्ट ग्रंथ है, उस ग्रंथ की महानता स्वतः ही स्पष्ट हो जाती है। कहा जाता है कि भारतीय साहित्य में श्रीमद भगवद्गीता के बाद प्रायः यह योगसूत्र ग्रंथ ही है जिसका विश्व की अधिकतम भाषाओं में अनुवाद हो चुका है । भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत में भी दो दर्जन से अधिक टीकाएं इस ग्रंथ की लिखी जा चुकी है जिससे इस ग्रंथ की गम्भीरता व महत्व प्रतिपादित होता है।

योग की सबसे उद्धत की जाने वाली व्याख्या पतंजलि के योगसूत्र की है पतंजलि ने चित्त वृत्ति निरोध की एवं उस स्थिति को प्राप्त करने के लिये किये जाने वाली साधना इन दोनों को योग कहा है। पतंजलि ने योग की परिभाषा इस प्रकार दी है जिसके अर्थ की विस्तृत व्याख्या भी दी है।

योगाश्चित्त वृत्ति निरोधः।। पंतजलि योगसूत्र 1/2

अर्थ– महिर्ष पतंजलि के अनुसार ''चित्त की वृत्तियों को रोक देना ही योग है।''

पतंजलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों को रोकना या नियंत्रित करना योग है अर्थात् चित्त की वृत्तियाँ जो सतत् चलायमान अतएव क्षिप्त आदि रहा करती है को अभ्यास के द्वारा नियंत्रित करना या अर्न्तमुख कर लेना जिससे कि सभी वृत्तियाँ नियंत्रित हो जाय और अत्यंत सघन एकाग्रता (समाधि) का निर्माण हो जाय, योग है । पतंजलि ने इसके लिये ही ''योगश्चित्त वृति निरोधः'' कहा है जिससे प्रयोग किये गये तीनों शब्दों का बहुत गहरा अर्थ है । वे शब्द हैं– चित्त, वृत्ति, निरोध ।

चित्त– ''चिति'' सज्ञानें । ''चिति'' धातु का अर्थ है, संज्ञान करना या कराना, चेताना आदि। इसी चिति, धातु में त प्रत्यय लगने से चित्त शब्द बना है, जो भूतकाल वाचक शब्द है अतः यह कहना उचित होगा कि मानव मात्र में जो चेतना का विस्तार है वह चित्त के कारण ही है। स्थूल स्तर पर मनुष्य शरीर में दस इन्द्रियाँ, मन, अंहकार एवं बुद्धि तथा उससे भी आगे चिदाकाश तक चित्त का विस्तार है। सांख्य के ही अनुसार मन का कार्य संकल्प करना अहंकार का कार्य अभियान आदि तथा बुद्धि का कार्य संपूर्ण ज्ञान का प्रकाश करना है।

किन्तु योगदर्शन में प्रयुक्त चित्त शब्द मन, बुद्धि, अंहकार एवं चित्त इन चारों ही अन्तर इंद्रियों की ओर संकेत रखता है अतः योग के आरम्भिक काल में चित्त और मन को समान मानकर चला जा सकता है फिर भी यह स्पष्ट रहना चाहिये कि मन चित्त का एक अंश मात्र है तथा योग की समाधि आदि उच्च अवस्थाओं की प्राप्ति

चित्त के ही माध्यम से होती है न कि मन से । वैसे स्वयं योगदर्शन में भी कई स्थलों पर चित्त के स्थान पर मन शब्द का प्रयोग हुआ है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति से उत्पन्न समस्त जागतिक पदार्थ त्रिगुणमय है। अतः चित्त भी त्रिगुणात्मक है सत्व, रजस और तमस, इन तीनों गुणों का क्रमशः प्राख्या (प्रकाश–सात्विक), प्रवृत्ति (राजस) और स्थिति (नियमतामस) स्वभाव है अतः चित्त को भी अनिवार्यतः प्राख्या, प्रवृत्ति और स्थितिशील होना ही चाहिए।

प्रधान प्रकृति की साम्यावस्था की प्रथम विकृति है बुद्धि (महत) बुद्धि की विकृति है अहंकार, अहंकार की विकृति है मन, और तीनों का समुच्चय है ''चित्त''। चित्त का उदगम अन्तिम तत्व आकाश से हुआ है अतः वह वायु से भी सूक्ष्म और श्रेष्ठ है वायु प्रकृति का चर्तुथ तत्व है। चित्त की अपेक्षा वह स्थूल एवं निम्न कोटि का है। प्राण वायु से भिन्न है वह शक्ति का वाचक है उसका संबंध आत्मा से है प्रकृति से नहीं । चित्त स्वभावतः जड़ है परन्तु पुरूष के सम्पर्क के कारण उसके प्रकाश से प्रकाशित रहता है और संचेतन प्रतीत होता है निर्मल होने के कारण उसमें आत्मा का प्रकाश पड़ता है, जिससे उसमें चैतन्य का आभास होता है । जब किसी विषय से उसका संबंध होता है तब प्रतीत का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण वह विषयाकार प्रतीत होता है।

चित्त में जीव के जन्मजन्मान्तर के संस्कार एकत्रित रहते है। जब तक वह चित्त क्षीण नहीं होता तब तक अनादि संसार वासनाक्षय को प्राप्त नहीं होती। हजारों जन्मों के संस्कारों से चित्त भरा हुआ होता है इसीलिये चित्त को जीतना सहज नहीं है। चित्त के भीतर वृत्ति प्रवाह के केवल दो कारण होते है वासना अर्थात् भावनामय संस्कार तथा प्राण का प्रवाह।

सत्वबहुल होने से चित्त ज्ञानस्वरूप है और एक है, तथापि त्रिगुणात्मक होने से गुणों की विषयता से विचित्र परिणाम को प्राप्त होकर अनन्त प्रकार की अवस्था वाला हो जाता है किन्तु सुविधा की दृष्टि से भाष्यकार व्यास ने इसे पाँच अवस्थाओं में कल्पित किया है। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, और निरूद्ध ।

क्षिप्त– सत्वगुण न्यूनता तथा रज और तम प्रधान मात्र स्वार्थ भोग की तथा अत्यंत चंचल वृत्ति होने से वह चित्त की क्षिप्त भूमि (अवस्था) होती है।

मूढ़– सत्व और रजोगुण की न्यूनता तथा तमोगुण से युक्त होकर पूर्वापर हानि– लाभ के विचार से रहित अपने तुच्छ भोग के लिये परपीड़न और हिंसापरायण काम क्रोधादि दुराचार से परिपूर्ण वृत्ति वाली होने से वह चित्त मूढ वाली कही जाती है।

विक्षिप्त– वही चित्त जिस काल में तमोगुण की न्यूनता एवं सत्वगुण के विकास से सम्बद्ध होकर रजोगुण से युक्त हुआ करती है विक्षिप्त भूमि वाली कही जाती है। इस भूमि में चित्त आकस्मिक रूप से स्थिर हुआ करता है। जिज्ञासु साधक या देवत्व सम्पन्न व्यक्ति इस भूमि के उदाहरण है क्षिप्त या मूढ़ चित्त में स्थिरता का किच्चित् भी सम्पर्क नहीं रहा करता अतः इन्हें योग की सीमा में स्वीकार नही किया जा सकता। विक्षिप्त चित्त में आकस्मिक स्थिरता रहती है अतः आंशिक रूप से उसे योग की परिधि में रखा जा सकता है

एकाग्र– जब वह चित्त सत्वगुण की प्रधानता से ओतप्रोत रहते हुये किसी एक विषय में या निज स्वरूप में स्थिर हो जाता है तब उसे एकाग्र भूमि कहा जाता है इसमें रजस–तमस का सर्वथा अभाव हो जाता है । इस भूमि को ही सम्प्रज्ञात योग के नाम से जाना जाता है।

निरूद्ध– वह समाधि निष्ठ चित्त ही जब सात्विक वृत्ति से भी निरूद्ध हो जाता है और संस्कार मात्र शेष रह जाते है तब इस अवस्था को निरूद्ध भूमि कहा जाता है वास्तव में यही र्निवीज समाधि है और यही योग है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि रजः प्रधानवृत्ति क्षिप्त तमः प्रधान वृत्ति, मूढ़ किच्चित रजः सहित सत्वबहुलवृत्ति विक्षिप्त विशुद्ध सत्वप्रधान एकाग्र तथा संस्कार मात्र शेष निरूद्ध कहा जाता है।

वृति— वृत वर्तने धातु से प्रत्यय लगने पर वृत्ति शब्द बनता है, जिसके दो अर्थ होते है बर्ताव करना या गोल— गोल (वतुर्लाकार) घूमना । चित्त जो— जो वर्ताव या कार्य करता है वह सब वृत्ति है जिस प्रकार पानी में वर्तुलाकार लहरें उठती ही रहती है उसी प्रकार वृत्तियाँ चित्त में एक के बाद एक (सतत्) उठती ही रहती है इसी कारण चित्त की उपमा जलाशय से दी जाती है विचार करना, भावना करना, अनुभव करना, कल्पना करना आदि सभी चित्त की वृत्तियाँ है। चित्त इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण करता है और इसके चंचल एवं परिवर्तनशील गुणों के कारण इसमें निरंतर परिवर्तन होते रहते है जिससे वृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती है अतः कहा जा सकता है कि चित्त में विषयों के सम्पर्क से जो परिणाम उत्पन्न होते है, उन्हें ही वृत्तियाँ कहते है।

निरोध— नि उपसर्ग पूर्वक रूध धातु से निरोध शब्द बना है जिसका अर्थ है पूर्ण रूप से रोकना या नियंत्रित करना । निरोध होने पर चित्त में वृत्तियाँ उठनी बंद हो जाती है। केवल शोध शब्द से बलपूर्वक रोकना या बंद करना अर्थ प्रकट होता है। जबकि निरोध अष्टांग योग के अभ्यास से अपने आप सहज रूप से हो जाता है।

पतंजलि के योग में साधनों के अभ्यास से प्रत्येक परिणाम स्वयं ही आते रहते है यही इस योग पद्धति की विशेषता है।

वृत्ति का सक्कारण चित्त में लीन होना निरोध कहा जाता है क्षिप्त अवस्था में तम एवं सत्वगुण का निरोध है। मूढ़ अवस्था में तमोगुण का निरोध है। एकाग्र अवस्था में केवल ध्येयाकार वृत्ति को छोड़ कर सकल वृत्तियों का निरोध होता है तथा निरूद्ध अवस्था में उक्त ध्येयाकार वृत्ति का भी निरोध हो जाता है अतः चित्त की पाँचों भूमियों में कुछ न कुछ निरोध अवश्य रहता है किन्तु सभी भूमियों के निरोध को योग नही कहा जाता मात्र एकाग्र एवं निरूद्ध भूमि के निरोध को ही योग कहा जाता है चित्त वृत्ति निरोध योग का लक्षण है और एकाग्र तथा निरूद्ध अवस्था का लक्ष्य निरोध है।

निरूद्ध अवस्था वाले चित्त मे विषयाभाव होने के कारण वृत्तियों के हट जाने से वृत्तियों के प्रतिबिम्ब से रहित पुरूष अपने मूल स्वरूप में अवस्थित हो जाता है जैसे रक्त पुष्प के हट जाने से स्फटिक अपने आप स्वच्छ रूप में अवस्थित रहता है किन्तु अविरूद्ध अवस्था में भ्रान्ति के कारण पुरूष उन शान्त, छोड एवं मूढ़ रूप चित्त के वृत्तियों के साथ एकाकार रहता है और में सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं अज्ञानी हूँ इस प्रकार का व्यवहार करता है।

इस प्रकार पतंजलि की दी हुई परिभाषा का विस्तृत अर्थ है। जिसे समझने के पश्चात् ही योग का सही अर्थ निकाला जा सकता है।

अग्रलिखित विवेचन से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में योग की परम्परा पूर्ण रूप से विकसित अवस्था में थी तथा मनीषी लोग योग शब्द के महत्व से भलीभांति परिचित थे। उन्होंने योग को मुक्ति प्राप्ति का साधन भी मान लिया था तथा उससे यह विदित होता है कि प्राचीन काल में योग के किसी न किसी भाग का उपयोग ऋषि मुनि करते आये जिसके कारण वह योग प्राचीन परंपरा में भी फला–फूला है।

इसके पश्चात् इसी पृष्ठभूमि पर आधुनिक भारतीय दार्शनिकों का आगमन हुआ। उन्हें योग शब्द का विकसित अर्थ, महत्व तथा उसकी प्रक्रिया हमारी स्मृतियों एवं सूत्र ग्रंथों से प्राप्त हुई । किन्तु फिर भी समकालीन भारतीय विचारकों ने योग शब्द का विभिन्न प्रकार से प्रयोग किया । उन्होंने मानव जीवन में योग के महत्व को भी स्वीकारा है । उन्होंने योग शब्द का अर्थ विभिन्न दृष्टिकोणों से किया है उनके अनुसार ''योग का अर्थ जोड़ना है'' अर्थात् जीवात्मा को परमात्मा के साथ जोड़ना मिलाना । कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर प्राप्ति ही हमारा लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति न हो पाना ही हमारी मृत्यु है अतः जब मानव ऐहिक और पारलौकिक इंद्रिय वासना का त्याग करके केवल ईश्वर और सत्य का लक्ष्य धारण करें, उसे तब तक संघर्ष करते रहना चाहिये जब तक ईश्वर साक्षात्कार न हो जाये। यह तभी संभव है जब उसमें तीव्र

आकांक्षा हो। जैसे– जल में डूबता व्यक्ति वायु के लिये व्याकुल होता है। ठीक उसी प्रकार की व्याकुलता ईश्वर की प्राप्ति के लिए भी हो इसके लिये मन को बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख करना होगा ।

चित्त वह वस्तु है जिससे हमारे मन का निर्माण होता है और जो निरन्तर बाह्य तथा आंतरिक प्रभावों से प्रभावित होकर संकल्प–विकल्प की तरंगें उछालता रहता है। योग हमें सिखाता है कि मन का किस प्रकार नियमन किया जावे जिससे वह संतुलन होकर तरंगित न होने पाये।

योगाभ्यास की विभिन्न विधियां हैं जिसके द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है। उनमें से कुछ बड़ी कठिन है इसकी सफलता के लिये दीर्घकालीन ''यम नियम'' अपेक्षित है इसका प्रखर अभ्यास करते रहने से ''आत्मा'' का बोध होने लगता है ।

अध्याय–3

योग के प्रकार

अग्रलिखित विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय मनीषी आदिकाल से ही योग से परिचित रहे है । यह सत्य है कि समयानुकूल योग शब्द के विभिन्न अर्थ किये गये है। इसीलिये भारतीय विचारों ने इसको विभिन्न तरह से समझा है। ऋग्वेद से लेकर स्वामी विवेकानंद एवं अन्य भारतीय विचारकों के विचारों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि योग शब्द का एक अर्थ सभी को मान्य है, अर्थात् दो तत्वों का मिलन । इस मिलन को विभिन्न प्रकार से देखा गया है बैलों का गाड़ी से मिलन एवं आत्मा और परमात्मा के मिलन दोनों को ही योग शब्द से सम्बोधित किया गया है योग शब्द से संबंधित वर्णन यह सिद्ध करता है कि योग शब्द के अर्थ का विकास हुआ है और इस विकास की चरम परिणति योग का अर्थ आत्मा और परमात्मा के मिलन को सम्बोधित करने में, इस मिलन के लिये किस प्रक्रिया को अपनाया जाय इस संबंध में भारतीय योगियों ने भिन्न–भिन्न मत प्रकट किये हैं। इसीलिए आज योग के विभिन्न प्रकार उपलब्ध होते है।

आत्मा एवं परमात्मा के मिलन के लिये वैदिक ऋषियों ने आदिकाल से तीन मुख्य साधन योग बतलाये है। ये साधन है। भक्तियोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग। ऋग्वेद के अध्ययन से ही यह ज्ञात हो जाता है कि उसमें ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग के बीच संबंध विद्यमान है । ऋग्वेद के विचारों को विकसित करके बाद में जाने वाले मनीषियों ने उपयुक्त तीनों साधनों का वद्ध विवेचन प्रस्तुत किया है उदाहरण के लिये प्रायः सभी उपनिषद् ज्ञानयोग के विवेचन से ही सबंधित है जबकि ब्राह्मण ग्रंथों में कर्मयोग को महत्व दिया गया है।

परन्तु जब हम योग शब्द का प्रयोग एक उपासना पद्धति के रूप में करते है तब यह प्रश्न निर्मित होता है कि योग एक है या अनेक? क्या उसके जो अनेक प्रकार माने जाते है वे सब एक दूसरे से सर्वथा भिन्न या स्वतंत्र है? इस प्रश्न

का उत्तर यह है कि वास्तव में योग एक है अनेक नहीं । उसके सभी प्रकारों में आरंभ और अंतिम स्थिति एक सी है फिर भी उसके साधनों को देखते हुये भिन्नता अवश्य मालूम पड़ती है उदाहरण–

1. जैसे खादय वस्तुओं के अनेक प्रकार होते है परन्तु भूख लगना यही उनका मूल कारण है और क्षुधा शांति यही उन सबका अंतिम उद्देश्य है ।

एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने के अनेक मार्ग होते हुये भी सब का आंरभ स्थान एवं गतंव्य स्थान समान हो सकता है उसी प्रकार योग के सभी प्रकारों में आंरभ अज्ञान से ही होता है तथा दुख एवं अज्ञान से सर्वथा मुक्ति उसका अंतिम लक्ष्य । यही सभी प्रकारों का ध्येय है। इसलिये हम कह सकते है कि योग के प्रकार एक दूसरे से भिन्न नहीं है उनमें केवल ऊपरी दृष्टि से भिन्नता है।

प्रकारों की उत्पत्ति के कारण– किसी भी समाज में लोगों की प्रवृत्तिया भिन्न दिखाई देती है कोई व्यक्ति अधिक तार्किक होता है तो कोई अधिक भावना प्रधान कोई अधिक विवेकशील एवं गंभीर होता है। तो कोई अधिक हट्टा–कट्टा और शरीरिक बल संपन्न जीवन के प्रति इन विभिन्न लोगों के दृष्टिकोण भिन्न होना स्वाभाविक है। इन विभिन्न प्रवृत्तियों के कारण किसी का मन भक्ति में अधिक लगता है तो किसी का कर्म में तो किसी का ज्ञान में और इसमें लोगों में योग के विभिन्न प्रकार प्रचलित हुये।

योग के मुख्य चार कहे जा सकते है जैसे हठयोग, कर्मयोग, भक्तियोग एवं राजयोग वैसे तो योग शब्द को जोड़ कर योग का कोई भी प्रकार वन सकता है जैसे क्रिया, योग, तंत्र योग, मंत्रयोग, जपयोग, नाद योग, लययोग, कुंडलिनी योग आदि। योग साहित्य में कही राजधिराज योग, अमनस्क योग, अस्पर्श योग आदि शब्द भी कहे गये है ये सभी योग के स्वंक प्रकार होते हैं।

योग का प्रकार कोई भी हो हमें उसमें दो बातें हमेशा दिखाई देती है पहली बात है अपने मन को वश में करना नियंत्रित करना उसकी बाह्य विषयों के

पीछे दौड़ने की प्रवृत्ति कम करना इसको कहते है वैराग्य । दूसरी बात है इस प्रकार वश में किए हुये मन को एकाग्र करना तथा आत्मा में लगाना इसे कहते है अभ्यास। अर्थात योग का प्रकार कोई भी हो वैराग्य एवं अभ्यास से दो महात्वपूर्ण पहलू होते हैं।

1. भक्तियोग

योग के प्रकारों में भक्तियोग शायद सवसे प्राचीन है प्राचीनकाल में इसे भक्तियोग न कहकर केवल भक्ति शब्द से ही कहा जाता था। जिन ऋषियों ने वेदों की रिचायें रची उनमे भक्तिभावना का अविष्कार प्रचुर मात्रा मे था। प्रकृति की शक्तियों से वे बहुत प्रभावित थे । वे इन विभिन्न शक्तियों की प्रार्थना यज्ञ आदि के माध्यम से करते थे अपने स्वस्थ और सुरक्षा तथा भलाई के लिये इन शक्तियों का वे आहव्हन किया करते थे । वेद की रिचाओं में भक्ति सबसे प्राचीन उदाहरण मिलता है । पुराणों में, भगवदगीता, योग वशिष्ठ, आदि ग्रथों में भक्ति योग का विस्तृत वर्णन मिलता है श्री मद भागवत भक्तियोग के प्रमुख ग्रंथों में से एक है।

भक्ति का अर्थ भगवान से अनन्य प्रेम होता है, तथा भक्तियोग में प्रेम और भक्ति के द्वारा भगवान की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। अब प्रश्न है भगवान का स्वभाव क्या है? भगवान के अस्तित्व का प्रमाण क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर जाने बिना कोई भी व्यक्ति भगवान के प्रेम को पाने की आशा नहीं कर सकता। प्राचीन काल में इस विश्व में ऐसे व्यक्तियों का एक समुदाय था जिनके समक्ष भगवान के अस्तित्व का प्रश्न न होकर उसकी अनुभूति का प्रश्न था । भगवान है– उनके लिये यह एक स्वयं सिद्ध सत्य था। उनका संघर्ष केवल अपनी भक्ति को दृढ़ करना था ताकि वह एक सत्य के रुप में अनुभूत किया जा सके । सिद्ध और संत ऐसे ही थे जो बाद में पूरे विश्व के अध्यात्मिक एवं नैतिक शिक्षक बने । इनमें से कुछ महत आत्माएं शिक्षा के मूल तत्व से भी अपरिचित थी किन्तु अपने अध्यात्मिक प्रेम की आंतरिक शक्ति को प्रेरित होकर उन्होंने उस दुर्ज्ञेय परमात्मा को खोजा और प्राप्त किया था।

ईसा ने कहा था— मांगो तुम्हें मिलेगा, खोजो तुम्हे प्राप्त होगा। उन्होंने और उनके जैसे अन्य लोगों ने खोजा होगा और इतनी तन्मयता के साथ खोजा कि विश्व का महान रहस्य उनके सामने प्रकाशित हो गया। भारत के मध्ययुगीन महान संत कबीर ने कहा था मोको कहाँ तू ढूंढे बन्दे मैं तो तेरे पास में खोजोगे तो अभी मिलूगाँ पलभर की तलाश।

श्री राम कृष्ण कहते थे — जिस प्रकार एक कंजूस धन से, एक माँ एक बेटे से और एक प्रेमी अपनी प्रेमिका को प्रेम करता है, अगर कोई व्यक्ति इन तीनों के प्रेम से युक्त होकर भगवान की खोज करे तो वह आसानी से उसका अनुभव कर सकता है लेकिन कौन ऐसा करता है? व्यक्ति तो सांसारिक संबंधों के लिए ही घड़े भर आँसू बहाता है भगवान के लिए कौन रोता है?

मोहम्मद कहते थे— अगर तुम भगवान की ओर बटोगे तो वह तुम्हारे पास दौड़कर आयेगा । सामान्य रुप से प्रार्थना भक्ति की पहली सीढी है प्रत्येक धर्म कहता है कि भगवान के प्रति सच्ची भक्ति की संरचना के लिये प्रार्थना करनी चाहिए लेकिन एक शंकालू मन पूछेगा— मुझे क्यों प्रार्थना करनी चाहिये? मैं कैसे भगवान की प्रार्थना कर सकता हूँ जबकि न तो मैंने उसे देखा है और न ही जाना है और भला इसका प्रमाण ही क्या है कि मेरी प्रार्थना कभी सुनी भी जायेगी और उसका जवाब भी मिलेगा? यह निःसंदेह सत्य है कि बिना ईश्वर को जाने उसकी प्रार्थना करना कठिन है। लेकिन यह उतना ही सच है कि प्रार्थना और उत्कट लालसा के बिना कोई व्यक्ति भगवान को नहीं जान सकता ।

यह सर्वप्रथम तो विरोधामास सा लगता है। लेकिन यह विवाद तुरंत ही शांत हो जाता है जब संदेहशील व्यक्ति महान संतों एवं दृष्टाओं के प्रमाणों में विश्वास करने लग जाता है तो यह कहते है कि— हाँ ईश्वर प्रार्थनाओं का उत्तर देते है, और कोई भी प्रेम एवं निःस्वार्थ भाव से की गई प्रार्थना व्यर्थ नहीं जाती है। हम निष्ठावान शोधार्थियों के अनुभव की उपेक्षा नहीं कर सकते जिन्होने सत्य का अनुभव किया है।

अगर हम ऐसे व्यक्तियों की वाणियों में विश्वास करने में कठिनाई का अनुभव करते है जो अतीत में रहते थे, तो हमारे समकालीन में भी ऐसे व्यक्ति अवश्य प्राप्त हो सकते है जो प्रार्थना के साक्षात् प्रमाण है ऐसे व्यक्तियों के प्रतिदिन का जीवन शान्ति, प्रसन्नता और निःस्वार्थ प्रेम से इतना पूर्ण होता है कि किसी भी निष्ठावान व्यक्ति के लिये इनके प्रमाणों में अविश्वास करना असम्भव हो जाता है। ऐसे शंकालू लोग भाग्यशाली है जो अपने प्रारम्भिक जीवन में इन व्यक्तियों से मिलते है और उन्हें पहचानते है।

प्रार्थना अपने व्यापक अर्थ में यहाँ तक की दार्शनिकों के लिये भी एक अर्थ और मूल्य रखती है। यद्यपि परम तत्व के रूप में भगवान के अस्तित्व पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाये जा सकते है, लेकिन सभी दार्शनिक सम्प्रदाय जीवात्मा में असीम सत्ता के अस्तित्व को मानते है।

हिन्दू धर्म ने भक्ति परक आध्यात्मिक साधनों को ठोस आधार देने की दृष्टि से ईश्वर की मूर्ति पूजा पर बल दिया है। यह उन लोगों के लिये कटु आलोचना का विषय बन गया है जिनके पास न तो धैर्य है और न तो सहिष्णुता जो विविध प्रकार की मूर्ति पूजा और उनके पीछे के भावों को अध्ययन करने के लिये अपेक्षित होता है। यहां तक कि एक दार्शनिक जब उस असीम के बारे में सोचने की चेष्टा करता है तो उसे भी कुछ अनुभूत विशालता की धारणा को लेकर जो व्यापक स्थान, सागर की गहन जलराशि या ऊपर आकाश की महत नीलिमा को लेकर होती है, आधार बनाना पड़ता है। अंतिम विश्लेषण में यह भी मूर्ति पूजा का ही एक रूप है। ठीक इसी तरह मूर्ति एक प्रतीक है जो भक्तों को भगवत् चिंतन में सहायता पहुँचाती है। जिस प्रकार एक सुन्दर दृश्य कलाकारों को उस महान रचनाकार के बारे में सोचने के लिये प्रेरणा प्रदान करता है, ठीक उसी प्रकार एक सुन्दर प्रतिमा के माध्यम से एक भक्त अपने भगवान को देखता है। यह बात एक बालक भी जानता है, कि मिट्‌टी का लोंदा भगवान नहीं है लेकिन वही लोंदा जब एक मूर्ति का रूप ग्रहण कर लेता है, तो भक्त के हदय में भगवान के प्रति प्रेम की भावना जागृत करता है तब उसका मन मूर्ति में

प्रयुक्त मिट्टी का अतिक्रमण कर जाता है और परम चेतना की स्थिति को भी प्राप्त कर लेता है कौन ऐसा व्यक्ति है जो बिना किसी प्रकार के प्रतीक को आधार बनाये उस असीम के बारे में सोच सकता है? वे लोग जो मूर्ति पूजा की निन्दा करते है, वे भी अपने को प्रार्थना के लिये किसी न किसी ठोस वस्तु से जैसे 'क्रॉस', 'पुस्तक' और 'पवित्र पात्र' से जोड़ते हुये देखे गये हैं।

भक्ति का अर्थ– ''भक्ति'' संस्कृत के ''भज्'' धातु से समबद्ध है, जिसका अर्थ है, सेवा करना, इसमें वित, प्रत्यय लगाकर भक्ति शब्द बना है। ''वित'' से आशय है प्रेम अतः भक्ति सेवा तथा प्रेम का समन्वय है।

कुछ विद्वानों ने भक्ति का अर्थ 'प्रेम' और 'योग' का अर्थ 'रज्जू' (रस्सी) माना है और जब ये दोनों एक हो जाते है तो भक्त अपने हृदय को भगवान के चरण कमलों में बाँधने में समर्थ हो जाता है।

भक्ति योग की परिभाषाऐंः

श्वेताश्वरोपनिषद के अनुसार–

जिस साधक की परमदेव परमेश्वर में परम भक्ति होती है, उसी प्रकार अपने गुरू में भी होती है, अतः जिज्ञासु साधक को श्रद्धा और भक्ति पूर्ण होना आवश्यक है।

यस्य देवे परा भक्तिपर्या देवे तथा गुरो। श्वेताश्वर उपनिषद 6/23

विष्णु पुराण के अनुसार– हे ईश्वर–अज्ञानी जनो की जैसी गाढ़ी प्रीति इन्द्रियों के नाशवान, क्षणभंगुर योग्य पदार्थों पर रहती है वैसी ही प्रीति मेरी तुझमें हो और तेरी सतत् कामना करते हुये मेरे हृदय से वह कभी भी दूर न हो ।

या प्रीतिर विवेकानां विषयेए वनपायिनी
त्वामनुस्मतः सा में ह्रदयान्मापसर्पतु । विष्णु पुराण 1/20/19

हम देखते है जो लोग केवल इन्द्रिय भोग के अलावा और किसी वस्तु को नहीं जानते यही प्रीति जब ईश्वर के प्रति होती है तब भक्ति कहलाती है। भक्ति सूत्र में नारद के अनुसार– ''भगवान के प्रति उत्कट प्रेम ही भक्ति है।''

सा त्वस्मिन् परमप्रेम रूपा।। नारद भक्ति सूत्र –2

श्रीमद भागवत के अनुसार–

''ध्यान करते समय अधरों की मुस्कानमयी कान्ति से वरूण देह में स्थित कुन्दकली के समान दंत पंक्ति का ध्यान करना चाहिये । उस समय भक्त प्रेम रस पूर्ण भक्ति से समर्पित मन होकर ध्यान करें अन्यत्र देखने की चेष्टा न करें।''

अतः भक्ति भाव सहित भगवान के स्वरूप का ध्यान करना ही कल्याणकारी होता है।

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ।
मासा रूणासित तनुद्विअकृन्द पंक्ति।।
ध्यायेत स्वदेह कुहरे वसितस्य विष्णो।
मंक्त्यार्द्रयर्पित मना न पृधग्दिवृक्षेत ।। भागवत 3/28/36

गीता के अनुसार–

''जो पुरूष अव्यभिचारी भक्ति रूप योग के द्वारा मेरे को निरंतर भजता है, वह इन तीनों गुणों को अच्छी प्रकार पालन करके (लाँघकर) सच्चिदानंद ब्रह्मा में एकीभाव होने के लिये योग्य होता है।''

इसमें केवल एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर को ही अपना स्वामी मानता हुआ स्वार्थ और अभिमान को त्याग कर, श्रद्धाभाव सहित, परम प्रेम से निरंतर चितंन करने को ही ''भक्तियोग'' कहते है।

मा. च. योडव्य भिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीव्यैतान्ब्रह्मभूयाम कल्पते ।। गीता 14/26

पतंजलि के अनुसार—

''ईश्वर का ध्यान वह भक्ति है जिसमें इन्द्रिय भोग आदि समस्त फलाकाक्षांओं को त्याग कर सारे कर्म उन परम गुरू को समर्पित कर दिये जाते है।''

अतः अपने आपको पूर्णरूपेण ईश्वर को समर्पित कर देना ही भक्ति है।

ईश्वर प्राणिधानाद्वा ।। प. योग सूत्र 1/23

योग के अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिये ईश्वर प्राणिधान एक उपाय के रूप में बताया गया है ।

स्वामी विवेकानंद के अनुसार भक्ति की परिभाषा—

सच्चे और निष्कपट भाव से ईश्वर की खोज को भक्ति योग कहते है। इस खोज का आरंभ मध्य और अन्त प्रेम में होता है ईश्वर के प्रति प्रेमोन्मतता का एक क्षण भी हमारे लिये शाश्वत मुक्ति देने वाला होता है।

भक्ति मनुष्य के जीवन का एक स्वाभाविक पहलू है। मनुष्य अपने जीवन में कई बार अपने को अपूर्ण एवं शक्तिहीन तथा विफल पाता है । जीवन में अनेकों बार अभाव कष्ट एवं दुख का सामना करना पड़ता है। सुख, शांति एवं पूर्णत्व की मनुष्य की इच्छा पूरी हो पाना जब तक असंभव बन जाता है। जब तक कि मनुष्य किसी असामान्य शक्ति का सहारा न ले इसीलिये भक्ति आवश्यक हो जाती है। भक्तियोग का मूल स्त्रोत यह विश्वास है कि इस विश्व का निर्माण किसी दैवीय शक्ति से हुआ है तथा वही दैवीय शक्ति इस संसार का धारण और पोषण करती है मनुष्य के जीवन की तथा विश्व की सभी घटनायें उसी दैवीय शक्ति पर निर्भर करती है उसी शक्ति का नाम ईश्वर है। ईश्वर ही संसार का उत्पत्ति कर्ता, रचयंता नियामक एवं अंतिम आश्रय है। इस विश्वास में भक्तियोग की नीव है। ईश्वर की कृपा का पात्र बनना यह भक्तियोग का सार है। भजन, पूजन, प्रार्थना, स्वाध्याय, दान, तप, आदि से भक्त ईश्वर की कृपा प्राप्त करता है ये सब भक्ति योग के 'अंग' है।

भक्तियोग के मुख्य तथ्य या 'सिदधात्' दो है।

1. मन को तृष्णा से मुक्त एवं शुद्ध करना ।
2. मन को ईश्वर में लगाना।

भक्तियोग के अंतर्गत सबसे सरल एवं स्वाभाविक मार्ग भक्तिमार्ग ही है स्वामी विवेकानंद कहते है कि सच्चे और निष्कपट भाव से ईश्वर की खोज को भक्तियोग कहते है । सामान्य रूप से देखा जाय तो ईश्वर प्रेम ही भक्ति का मूल सिद्धांत हैं । इस प्रकार हम देखते है कि भक्ति योग में किसी न किसी रूप में भगवान को मानना आवश्यक है और उसके प्रति प्रेममय होकर उनके साथ एकीभूत हो जाना ही भक्ति योग का लक्ष्य है।

लगभग 12 वी शताब्दी के बाद भारत में भक्तियोग का एक विशाल जन आंदोलन के रूप में विकास हुआ । ज्ञानदेव, नानक, कबीर, नामदेव, तुकाराम, मीरा आदि अनेक संत महात्माओं ने सामाजिक समानता आचार्य शुद्धि और मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम का संदेश समाज में भक्ति के माध्यम से फैलाया। वह भक्ति योग के चरमोत्कर्ष का समय था ।

भक्ति की अभिव्यक्ति के रूप

श्रद्धा–भक्ति जिन विभिन्न रूपों में हमें दिखाई पड़ती है उनमें से सर्वप्रथम है ''श्रद्धा''। लोग मंदिरों, मस्जिदों, गिरिजाघरों और पवित्र स्थानों के प्रति श्रद्धा क्यों प्रकट करते है? इसका कारण यह है कि वहां भगवान का निवास है, या पूजा होती है। ऐसे स्थानों से उसकी सत्ता संबंधित है । ठीक यही बात धर्म के आचार्यो सन्तों के ऊपर भी लागू होती है कि मनुष्य उनके प्रति श्रद्धा क्यों प्रकट करते है? इसीलिए कि ये सब उन्ही भगवान की महिमा का संदेश (उपदेश) देते है । इस श्रद्धा का मूल है प्रेम । अतः जिससे प्रेम है वहां श्रद्धा है जहां प्रेम नही वहां श्रद्धा भी नहीं होती है ।

प्रीति अर्थात् ईश्वर चिंतन में आनंद । मानव इंन्द्रिय विषयों में कितना तीव्र आनंद अनुभव करता है और वही आनंद भगवान के प्रति प्रगट हो जाय तो ''प्रीति'' है।

शान्त भक्ति– जब भगवान की उपासना के समय मनुष्य के हृदय में प्रेम अग्नि प्रज्वलित नहीं रहती, जब उसकी उपासना में प्रबल प्रेम की उन्मतता नहीं रहती, तब वह उपासना शांत भक्ति या शान्त प्रेम कहलाती है ।

दास्य भक्ति– इस अवस्था में मानव अपने को ईश्वर का दास समझता है जिस प्रकार सेवक की स्वामी के प्रति अनन्य भक्ति होती है ठीक उसी प्रकार भगवान के प्रति भी भक्ति हो तो उसे दास्य भक्ति कहते है।

साख्य प्रेम– इसमे साधक भगवान को अपना साख्य या मित्र मानता है जैसा कि गीता में कहा गया है कि ''त्वंमेव अम्युश्य सखात्मेव'' अर्थात् तुम मेरे प्रिय सखा हो। जिस प्रकार एक मित्र अपने प्रिय मित्र के सम्मुख अपना हृदय खोल देता है और वह उसके अवगुणों पर ध्यान न देकर उसकी सहायता करता है। उसी प्रकार साख्य प्रेम के साधक और उसके सखा भगवान के बीच में मानों इसी प्रकार की समानता का भाव रहता है।

वात्सल्य प्रेम– इसमें भगवान का चिन्तन संतान रूप से करना पड़ता है।

भक्ति के भेद

शाडिल्य के अनुसार भक्ति के दो भेद है– 1. मुख्या 2. गोणी मुख्या । ''सिद्धि दिशा की भक्ति है और गोणी साधन दशा की।''

महर्षि अंगिरा ने गोणी के दो भेद बतलाये हैं।

1. बेधी 2. रागात्मिका ।

वेधी विविध विद्वानों द्वारा की जाने वाली भक्ति है तथा रागात्मिका इससे भिन्न रस का अनुभव कराने वाली तथ शान्ति और आनंद की प्रदायिनी भक्ति है।

वेधी नवद्या है– श्री मदभागवत् में इनका निरूपण भक्त चूड़ामणि प्रहलाद ने अपने पिता हिरण्यकश्यप के प्रश्न का उत्तर देते हुये कहा है।

प्रहलाद कहते हैं कि भगवान विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, बंदन, दास्य, सांख्य और आत्म निवेदन इन नौ लक्षणों से युक्त भक्ति पुरूषोत्तम विष्णु के प्रति अर्पित भाव से जो भक्त करता है वहीं ''सु–अधीत'' है।

इस प्रकार प्रभु के प्रति अनन्य प्रेम में डूब जाना हो भक्ति कहा गया है। नौ प्रकारों को संक्षिप्त में समझाया गया है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णें स्मरण पादसेवनम्।
अर्चन वन्दंन दास्यं साख्यात्म् निवेदनम।।
इति पंसार्पिता विष्णां भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रिय ते भगवत्यदधा तन्मन्धे धीतमुक्तमय।।

श्रीमद भागवत–7/5/23–24

अर्थात्– 1. श्रवण– प्रभु से संबंधित ज्ञान का श्रवण करना ।

2. कीर्तन– प्रभु का गुणगान करना ।

3. स्मरण– प्रभु के स्वरूप का स्मरण करना ।

4. पादसेवन– चरण सेवा करना ।

5. अर्चना– पूजा करना ।

6. वंदना– स्तुति करना ।

7. दास्य– स्वामी सेवक संबंध रखना ।

8. साख्यभाव– मित्रता का भाव रखना ।

9. आत्म निवदेन– सर्वत्र अर्पण करके प्रभु का हो जाना ।

इन 9 प्रकारों में से किसी भाव से उपासना करना भक्ति योग है।

गोणी भक्ति जिसे कनिष्ठा भक्ति भी कहा गया है नारद भक्ति सूत्र में ग्यारह प्रकार की आसक्तियाँ वर्णित है।

1. गुण माहात्म्यासूक्ति
2. रूपासूक्ति
3. पूजासूक्ति
4. स्मरणसूक्ति
5. सस्यासक्ति
6. कान्तासक्ति
7. वात्सल्यासन्ति
8. दास्यासक्ति
9. आत्मनिवेदनासक्ति
10. तन्मयासक्ति
11. परमविरहा सक्ति ।।

इसे रागानुमा अथवा प्रेमात दक्षिणा भक्ति भी कहते हैं।

गुण माहात्मयासक्ति, व्यासक्ति, पूजासक्ति, स्मरण सक्ति, दास्या सक्ति, सख्या सक्ति, कान्तासक्ति, वात्सव्यादास्यात्य, निवेदनासक्ति, तन्मयाशक्ति, परमविरंहा सक्ति रूपा, एकधाप्येकादशया भवति।

नारद भक्ति सूत्र 82

भक्ति की बेधी दशा में भगवान के प्रति प्रेम सुदृढ़ करने के लिये श्रवण कीर्तनादि अनेक र्निदिष्ट विधियों के अभ्यास की आवश्यकता भक्ति की इस रागात्मिका दशा में भक्त के लिये गौड़ बन जाती है । तब वह श्रवण कीर्तन आदि अनेक र्निदिष्ट विधियों का वेधी दशा में अभ्यास करते–करते भगवान के प्रति, परिपरायण सती के समान हृदय में सुदृढ़ हो जाने के कारण स्वयं भगवच्चरणों के मधुरध्यान में अहोराज निमग्न रहता है परिणाम स्वरूप चित्त, दुःख, क्लेश, हीन, शांति तथा आनंद की दिव्य

ज्योत्सना से सदैव प्रफुल्लित रहता है । अतः देव महर्षि नारद ने भक्ति का ''कर्म और ज्ञान से श्रेष्ठ बतलाया है।''

सा तु कर्मज्ञानयोगेम्योड प्याधिकतरा।। नारद भक्ति सूत्र –25

इस प्रकार से नारद भक्ति सूत्र भक्ति को कर्म एवं ज्ञान की अपेक्षा अधिक सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। भगवान के प्रति अनासक्त भाव से भक्ति करना ही भक्तियोग है। इस प्रकार भक्ति को सभी ग्रंथों में उच्च बताया गया है, इससे साधक विभिन्न प्रकारों से भगवान की उपासना करता हुआ अपने परमलक्ष्य की ओर अग्रणीय होता है।

भक्ति के गुण

1. यह सब प्रकार के दुखों का निवारण करती है।
2. संपूर्ण कल्याण की प्रदात्री है।
3. मोक्ष को भी कुछ नही समझती ।
4. अत्यंत सुलभ है।
5. धनीभूत आनंद है।
6. भगवान श्री कृष्ण को अपनी ओर आकर्षित करने वाली है।

भक्तियोग पर विशेष बल इसलिए दिया गया है कि ''भक्ति मनुष्य मात्र के लिये कल्याणकारी है भक्ति काया, चित्त आदि को पीड़ित किये बिना केवल मनोवृत्ति के द्वारा सम्पादित हो सकने के कारण सहज सुलभ है।''

माग स्त्रियों म वि,याता मोक्षपाप्तो नगाछिप ।
कर्मयोग ज्ञानयोगो भहक्तयोगश्च सक्षम ।।
कल्याणमपस्यं योग्यः कर्तु शक्योस्ति सर्वथा ।
सूलभत्वान्मान सत्वान कार्याचत्ता दयपीड़ सम।।

देवी भागवत 7/37/2–3

स्वयं भगवान कहते हैं कि कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग, योग, दान, धर्मव्रत, तीर्थयात्रा, प्रमृति अन्य कष्टदायक साधनों के द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है उस सबो भक्त, भक्ति के द्वारा ही कठोर परिश्रम किये बिना प्राप्त करता है।

यत कर्मोनियत तपसा ज्ञानवैराग्य तश्च मृत ।

योगेन दान धर्मेण श्रेयो मिरी तेस्रपि ।

सर्वमद भक्ति योगेम मदभक्तो लभतेजसा।

श्रीमद्भागवत हिन्दी टीका–11/20/30

भक्तियोग की ऐसी महिमा है कि ईश्वर के प्रति ऐकान्तिक भक्ति के द्वारा क्षुद्र महान हो सकता है और उसे विहीन होने पर महान भी अतक्षुद्र हो सकता है।

भक्ति के द्वारा मानव अपने महान दिव्य लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है क्योंकि भक्तियोग सबसे सरल और स्वाभाविक मार्ग है। इस पराभक्ति से अभिभूत मानव प्रेमस्वरूप ईश्वर के इतने निकट पहुँच जाता है कि वह फिर दूसरों के प्रति घृणा, द्वेष ईर्ष्यों आदि प्रवृत्तियों का सदा के लिये त्याग कर देता है और वह ईश्वर में अपनी अविच्छित (तेलधारावृत) वृत्ति को लगा देता है तथा अन्त में उसे प्रभुदर्शन स्वरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है। सारे सांसारिक खजाने उसे तुच्छ प्रतीत होते है और उसे अपनी ओर आकर्षित नही कर पाते । शरीर में रहते हुये भी वह शरीर ज्ञान से ऊपर उठ जाता है। जीवन और मृत्यु लोक और परलोक की विभेदक रेखा उनके लिये गायब हो जाती है और उसके लिये इन सबो का कोई अर्थ नही रह जाता । वह जानता है कि वह जहाँ कही भी है, वह ईश्वर का है जो सर्वव्यापी त्रिकालदर्शी और सर्वशक्ति मान है अगर वह जीता है तो वह वरदान बनता है और वह ऐसी ज्योति प्रज्वलित करता है जो उस पथ पर चलने वाले दूसरे भक्तों को शाश्वत रूप से प्रकाशित करती है वह मृत्यु से भी अमरत्व प्राप्त करता है क्योकि वह भगवान के सभी सच्चे प्रेमियों के हृदय में विराजमान रहता है।

कर्मयोग

संसार में कुछ व्यक्ति ऐसे है जो भगवान के प्रति शरणागति और प्रार्थना की तुलना में कर्तव्य भावना से अधिक प्रेरित होते है । मृत्यु के बाद क्या होगा – इस दृष्टि से वे संसार को देखना पसंद नही करते । उनके लिये वर्तमान संसार की यथार्थ संसार है और इसमें उनका मन और शक्ति इतनी लग जाती है कि उन्हें सपनों अथवा दार्शनिक धारणाओं के लिये समय नही रहता । वे अनुभव करते है कि उनका कर्तव्य अपने प्रति अपने पड़ोसियों के प्रति और राष्ट्र के प्रति है अगर उनका हृदय व्यापक है तो वे अपने कर्तव्य की जिम्मेदारी विश्व और मानवता के प्रति भी मानते है। स्वभाव से ही कर्मठ एवं महत्वाकाक्षी होने के कारण वे हर समय किसी न किसी काम में व्यस्त रहते है । जब तक वे किसी एक विचार को कार्य में परिणत करते है तब तक सैकड़ों विचार उनके दिमाग में प्रवेश कर जाते है अगर वे जीवन में सफल होते है, तो वे बहुत बडे देशभक्त, राजनैतिक नेता, समाजसुधारक, परोपकारी वैज्ञानिक या लेखक आदि बन जाते है । इस तरह वे अपनी व्यक्तिगत रूचि के अनुसार अपनी अदम्य उर्जा को एक अथवा अनेक कार्यो में लगा देते है।

हम लोग इस जन्म से पहले असख्य बार इस संसार में जन्म ले चुके हैं । उन सभी जन्मों में कभी मनुष्य योनि प्राप्त हुई होगी तो कभी पशु योनि और कभी कीट, पंतग आदि की योनि प्राप्त हुई होगी, उन जन्मों में हम कुछ कर्म करते आये है। उन्हीं के संस्कार इस जन्म में वासना रूप से हमारे चित्त में मौजूद होते है और बहुधा हमें अनुचित कर्म करने को प्रेरित करते है। अध्यात्म मार्ग में आगे बढ़ने के लिये यह आवश्यक है कि हम सारी इच्छाओं और आसक्ति से मुक्त होने का एक मात्र उपाय है, शास्त्र अनुसार कर्म करना । इस विषय पर श्री मदभागवद गीता में उन बिंदुओं पर विस्तृत विचार हुआ है जो कर्म को मोक्षदायक अंगो की श्रेणी में लाते है। इस भौतिक जगत में हर व्यक्ति को किसी न किसी प्रकार के कर्म में प्रवृत्त होना पड़ता है किन्तु ये ही कर्म उसे इस जगत से बाँधते है, या मुक्त कराते है। निष्काम भाव से परमेश्वर

की प्रसन्नता के लिये कर्म करने से मनुष्य कर्म के नियम से छूट सकता है तथा आत्मा ब्रह्म विषयक दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

कर्म योग का समग्र वर्णन भगवत गीता में किया गया है। कर्म का अर्थ है, शरीर से, मन से या वाणी से की जाने वाली कोई भी क्रिया । क्रिया या कर्म के बिना कोई भी मनुष्य एक पल भर भी नहीं रह सकता। कर्मयोग का अर्थ कर्म को छोड़ना नहीं है, बल्कि कर्म करते हुये उसके बंधन से मुक्त रहना । मनुष्य जो भी कर्म करेगा उसका फल उसको अवश्य ही प्राप्त करना होगा । उससे छुटकारा उस फल को प्राप्त करने से ही मिल सकता है। कर्म करने पर उसको संस्कार चित्त में रह जाता है । वह तब तक चित्त में रहेगा, जब तक कि उसका फल प्राप्त न किया जाये। इस प्रकार किसी भी समय हमारे मन में पुराने सभी कर्मों के संस्कार संचित रहते है।

इसको कहते हैं– कर्माशय, यह कर्माशय ही मनुष्य को इस संसार में बाँधता है तथा संस्कारों के फल भोगने के लिये बार–बार पुर्नजन्म लेने में विवश कर देता है, इसीलिये कर्माशय को कर्म बंध भी कहा जाता है। अच्छे कर्म को अच्छा फल मिलेगा अर्थात् कर्मफल अवश्य ही मिलता है, चाहे इस जन्म में हो या आगे के जन्मों में। कर्मफल को कर्म विपाक कहा जाता है, जब तक सभी कर्मों के संस्कार भोग करके खत्म नहीं किये जाते तब तक संसार से मुक्ति नहीं हो सकती ।

हमारे धर्म ग्रन्थों में कर्म द्वारा भी आत्मा और परमात्मा का मिलन संभव माना गया है इसीलिये जो कर्म आत्मा और परमात्मा का मिलन संभव बनाते है उन्हें कर्मयोग के अंतर्गत रखा गया है।

वह कर्म जो बिना किसी मोह अथवा स्वार्थ के कर्मो से मुक्ति के लिये किया जाता है कर्मयोग है। लेकिन सभी व्यक्ति दार्शनिक चिन्तक या साधक नही कहे जा सकते क्योंकि उनमें कर्तव्य के लिये जो स्वाभाविक योग्यता चाहिये उसकी कमी है, इसीलिये कर्मयोग कार्यकर्त्ता लोगों का रास्ता है हमने यह देखा कि व्यक्ति चाहे आत्मा

साक्षात्कार के लिये संघर्ष करें या न करें उसे अपने नैतिक कर्तव्य करना ही पड़ते है क्योंकि वे मानव जीवन के लिये आवश्यक है और कार्य तभी सफल होते है जब मन की एकाग्रता हो । इसलिये त्रिशिखि ब्रह्ममणों उपनिषद में कहा गया है कि–

ज्ञान योगः कर्मयोग इति योगोद्धिया मतः।।

त्रिशिख ब्रा.उपनषिद–32/108

अर्थात्– कर्मयोग आवश्यक कार्यो के लिये मन का अवरोध है।

गीता के अनुसार कर्मयोग की परिभाषा

बृद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुस्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मेसु कौशलम।।

भगवतगीता 2:50

अर्थ– गीता में कहा गया है कि समंत्व बुद्धि युक्त पुरूष पुण्य पाप दोनों को इस लोक में त्याग देता है अर्थात् उनसे लिपायमान नहीं होता । इससे समत्व बुद्धि योग के लिये ही चेष्टाकार यह समत्वबुद्धि रूप योग ही कर्मो में चतुरता है अर्थात् कुशलतापूर्वक कर्म को करना ही कर्म बन्धन से छूटने का उपाय है।

योगस्थ कुरू कमाणि संग्ड व्यक्ता धनज्जय ।
सिद्धयसिद्धयो समो भूत्वा समत्वं योग उच्चयते।। गीता 2/48

अर्थात्– हे धन्नजय ! सिद्धि और असिद्धि के प्रति समान भाव रखकर आसक्ति को छोड़कर कर्म करो । इस समत्व को ही कर्मयोग कहते हैं।

कर्मयोग वह युक्ति या कुशलता है जो मनुष्य को कर्म बंध से मुक्त करा देती है । यह युक्ति है कर्मफल की इच्छा को छोड़ देना । इसीलिये इसको अनासक्त योग या निष्काम कर्मयोग कहते है इसमें लाभ या हानि सुख तथा दुख शीत और उष्ण आदि द्वन्दों के प्रति समान दृष्टिकोण रखा जाता है इसीलिये यह समत्व बुद्धियोग भी कहलाता है कर्मफल के संबंध में आसक्ति को छोड़कर कर्म करते रहना कर्तव्य को

कभी नहीं छोड़ना यह कर्मयोग का सारांश है फलासक्ति को छोड़ना यह कर्मयोग का साराशं है । फलासक्ति को छोड़ने से कर्मबंध से मुक्त हो सकते है अर्थात् आसक्ति का त्याग करते हुये मन को स्थिर एवं शांत रखना यही कर्मयोग स्वरूप गीता में स्पष्ट किया गया है।

कर्मजं बृद्धियुक्ता हि फल व्यक्वा मनीषिणः।
जन्मबंध विनिमुर्क्ताः पंद गच्छन्त्यनामयम्।।

अर्थात्– कर्मो के फल को त्याग कर समत्व बुद्धि वाले मनीषी लोग पुर्नजन्म के बंधन से छूटकर अमृतमय परमपद को प्राप्त होते है।

यहाँ पर एक सवाल पैदा होता है कि यदि कर्म के फल में कोई आकर्षण न हो तो फिर मनुष्य कोई कर्म करेगा ही क्यों? वह निष्क्रिय एवं उदासीन हो जायेगा? इस पर गीता का उत्तर यह है कि उदासीन तो होना है परतु कर्म के प्रति नहीं, केवल उसके फल के प्रति, यही कर्मयोग का तात्पर्य है।

यस्त्विन्हियाणि मनसा नियम्यारमतेडर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।। भगवत्गीता 3:7

अर्थात्– गीता में कर्मयोग को विशेष महत्व देते हुये भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते है कि अर्जुन जो पुरूष मन से इन्द्रियों को वंश में करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है वही श्रेष्ठ है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलं हेतु भूर्मा ते सग्डोस्त्व कर्मणि।। गीता 2/47

अर्थात्– गीता में भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि– हे अर्जुन । तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार हो फल में कभी नही और तू कर्मों के फल की वासना वाला भी मत हो तेरी कर्म न करने में भी प्रीति न होवे ।

इस प्रकार गीता में श्री कृष्ण भगवान कर्मयोग के संदर्भ में अर्जुन को उपदेश देते हुये समझाते है कि व्यक्ति को कर्म फल का त्याग कर अर्थात् हर परिस्थिति में सुख–दुख, लाभ–हानि, जय–पराजय, जन्म–मृत्यु, सभी में समान रूप से व्यवहार करना चाहिये उसे स्वार्थी नहीं बनना चाहिये। उसे फल का त्याग कर कर्म के विषय पर विचार करना चाहिये अर्थात् कर्म फल के प्रति उदासीन होना चाहिये । इसी प्रकार कुशलता पूर्वक कर्म को करना ही कर्मयोग है।

उपनिषद में कर्मयोग की परिभाषा

उपनिषद में कर्म की विशेषता बतलाते हुये कहा गया है कि कौन से कार्य करना चाहिये और कौन से नही अतः ईशावापास्योपनिषद के अनुसार– इस जगत में शास्त्र नियत कर्मों को करते हुये सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करना चाहिये । इस प्रकार त्याग भाग से परमेश्वर के लिये किये जाने वाले कर्म, तुझ मनुष्य मे लिप्त नहीं होगें, इससे भिन्न अन्य कोई प्रकार का मार्ग नहीं है जिससे कि मनुष्य कर्म बंधन से मुक्त हो सके।

कठोपननिषद में कर्मयोग की परिभाषा इस प्रकार दी गई है।

यदा सर्वे प्रमुच्चन्ते कामा ये स्थडहदि श्रिता ।
जयमर्त्योडमृतो भवत्यत्र ब्रह्मा समश्नुते।। कठोपनिषद–2/3/14

अर्थात्– कठोपनिषद में निष्काम भाव की महिमा को वर्णित करते हुये कहा है कि जब साधक के हृदय से सम्पूर्ण कामनाये समूल नष्ट हो जाती है, तब वह जो सदा से मरणधर्मा था–अमर हो जाता है और यही इस मनुष्य शरीर में ही उस परब्रह्ममा परमेश्वर की भलिभाँति साक्षात अनुभव कर लेता है।

इस प्रकार से उपनिषदों में कर्मयोग के महत्व वार्णित किया गया है।

पुराणों में कर्मयोग

मतस्य पुराण में कर्मयोग को क्रियायोग के रूप में लिया गया जिसका वर्णन विभिन्न श्लोको में जगह जगह पर किया गया है जो इस प्रकार है–

अष्टावात्मगुणः प्रोक्ताः पुराणास्य तु कोविदेः
अयमेव क्रियायोगो ज्ञानयोगस्य साधकः।।

मत्स्यपुराण–1/52/110

अर्थात्– इस श्लोक में कर्मयोग को वर्णित करते हुये कहा गया है कि सभी गुणों से युक्त यह कर्मयोग क्रिया योग के समान है अर्थात् इसमें कर्मयोग को क्रियायोग से परिभाषित किया गया है ।

कर्मयोगोम्दवं ज्ञानं तस्मात्तपरम्पदम् ।
कर्म्म ज्ञानोम्दवं ब्रहम नच ज्ञानमकम्पर्णः।।

मत्स्यपुराण–1/30/60

मत्स्यपुराण में कर्मयोग पर प्रकाश डालते हुये कहा गया है कि कर्मयोग से समुत्पन्न जो ज्ञान है उसी से वह परमपद प्राप्त होता है कर्म ज्ञान से अदभुत होने वाला ब्रह्मा है, ज्ञान कर्म से वह अदभुत होने वाला नही है।

इसीलिये कर्मयोग की उपासना को ही सर्वश्रेष्ठ बंताया गया है।

तस्मात्कर्मणि मुक्तांव्या तत्वमाप्नोविशाश्वतम ।
वेदोड खिलोधनं मूल माचारश्वेत द्वितम्।।

मत्स्य पुराण–1/30/7

अर्थात्– जो मनुष्य कर्म में युक्त आत्मा वाला है वह शाश्वत तथ्य को प्राप्त किया करता है।

इस प्रकार से पुराणों में भी कर्मयोग का वर्णन उपरोक्त लिखित सूत्रों के माध्यम से किया गया है।

पंतजलि के अनुसार कर्मयोग

महर्षि पतजंलि के अनुसार चित्त की शुद्धि का एक सरल उपाय है क्रियायोग और वह समाधि प्राप्त करने का साधन है इसलिये उन्होनें अपने सूत्र में कहा है कि–

तपः स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानि क्रियायोगः।

पंतजलि योग सूत्र –2/1

अर्थ– पतंजलि ने उपरोक्त सूत्र में तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को ही क्रिया योग कहा है। आगे कहा है कि–

समाधिभावनार्थः क्लेशतनु करणार्थश्च। पतंजलि योगसूत्र 2/2

समाधिभावना तथा क्लेशों को क्षीण करने (तनु करने) के लिये क्रियायोग है। क्रिया शब्द को विस्तृत रूप में समझकर ही हम क्रियायोग को समझ पायेंगे। इसलिये क्रिया शब्द का अर्थ है किया जाने वाला अर्थात् अधिकतर शरीर के द्वारा किया जाने बाला। जैसे मन से किये जाने वाले कार्यों के लिये भी क्रिया शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु वहाँ भी मन के साथ शरीर का संबंध होता है। कुछ लोग क्रिया योग और कर्मयोग दोनो को समान मानते है किन्तु यह उचित नहीं है। कर्मयोग में कर्म शब्द पारिभषिक रूप में है जिसका अर्थ मात्र क्रिया नहीं अपितु उसका संस्कार विपाक, फल, निष्पत्ति आदि सारी प्रक्रिया अन्तभूर्त है। क्रिया शब्द में यह अर्थ नहीं आता अतः क्रिया योग का अर्थ कर्मयोग करना सर्वथा गलत है इस प्रकार यह क्रियायोग विशुद्ध रूप से किया जाने वाला आचरण है। इसके तीन प्रकार पतंजलि ने कहे हैं जो निम्न हैं– तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान ।

तप

तप धातु से तपस् या तप शब्द बना है जिसका अर्थ है तपाना या गरम करना तपाचरण के अनेक मार्ग है । अधिकतर व्रत आदि भी तपात्मक होते हैं । जिस प्रकार सोना, लोहा आदि धातु तपाने पर शुद्ध होता है उसी प्रकार तप में होने वाले

ताप के द्वारा शरीर शुद्धि तथा उससे मन शुद्धि और उससे आचरण शुद्धि होती है। अतः क्रिया योग के प्रथम अंग तप के आचरण के लिये पहले अपने खानपान, व्रत, नियम, आचार–विचार, आदि पर पर्याप्त ध्यान देना होगा और साथ ही प्राणायाम का पर्याप्त अभ्यास करना होगा । योग के अन्य ग्रंथों में इंन्द्रिय संयम को तप कहा गया है, अतः क्रिया योग के अभ्यास से इंन्द्रिय संयम ही होता है।

स्वाध्याय

महर्षि पतंजलि ने क्रिया योग के अभ्यास में दूसरा अंग स्वाध्याय बताया है। 'स्व' का अर्थ है 'अपना' और अध्याय का अर्थ है 'अध्ययन या चिन्तन' । अर्थात् 'अपना चिन्तन' या 'आत्म चिंतन' । किन्तु यह सरल नहीं है इसका स्थूल रूप है। शास्त्रों को खासकर मोक्षदायक शास्त्रों का अध्ययन, पतंजलि ने स्वाध्याय के फल के रूप में इष्ट देवता का सम्प्रयोग या मिलन कहा है। ईष्ट देवता अभिप्राय आत्मा या परमात्मा । अविद्या का नाश होने पर जब आत्म चिंतन संभव होगा तभी यह भान होगा कि मैं वही हूँ । इसलिये पतंजलि ने जो कहा है वह उचित है इस प्रकार का आत्माचिंतन करते हुये उसमें सात्विक प्रवृत्ति का निर्माण होता है।

ईश्वर प्राणिधान

इसका अर्थ है किसी देवता विशेष की मूर्ति में प्रत्यक्षतः पूजा, अर्चना करना। इसमें शारीरिक क्रिया से अधिक मानसिक समर्पण की भावना अधिक रहती है, अतः निष्कर्ष रूप में ईश्वर प्रविधान का अर्थ है विधिवतः पूजा अर्चना, पाठ–स्तुति आदि क्रियाओं से युक्त हो अपने को पूर्णतया ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना।

इसमें पतंजलि के द्वारा दी गई परिभाषा का विस्तृत अर्थ है कि क्रिया योग के माध्यम से व्यक्ति में निष्काम कर्म की भावना का विकास करना यही कहा जा सकता है।

कर्मयोग में मनुष्य को कर्म का रहस्य बतलाया है कि वह किस प्रकार कार्य करे जिससे उसे अधिकतम उपलब्धि हो, नैराश्य के दुःख से वंचित रहे साथ ही

जीवन के आध्यात्मिक उद्देश्य को भी प्राप्त कर सके । इस मार्ग का उद्देश्य केवल बाहरी सफलता को प्राप्त करना न होकर दासता से मुक्ति पाना और स्वार्थ रहित होने की सीख लेना है। अगर कोई मनुष्य वास्तविक सुख चाहता है, तो उसे अवश्य ही स्वार्थ रहित होना होगा । जितना ही कोई मनुष्य दूसरों के कल्याण के लिये अपने सुख का त्याग करेगा उतना ही उसे अपने जीवन में अधिक सुख प्राप्त होगा। यद्यपि यह विरोधाभास सा लगता है किन्तु इसका सत्य विभिन्न युगों में अनेकों बार प्रमाणित हुआ है। यह संदेहास्पद है कि हम विश्व का विकास कर सके, लेकिन यह निश्चित है कि हम अपने स्वार्थ रहित कार्यों के माध्यम से अपना विकास कर सकते है। कर्मयोग कहता है कि पूरी शक्ति एवं तीव्र गति से काम करो किन्तु उसकी सफलता और असफलता के बारे में मत सोचो। सफलता की स्थिति में अहंकार का और विफलता की स्थिति में दुख और नैराश्य का त्याग करो क्योंकि सफलता और असफलता का भाव स्वार्थपरता और अहंकार का परिचायक होता है जो अन्नतः दुख की ओर ले जाता है। पूरी शक्ति से काम करो किन्तु उसके परिणाम से परे रहो। अगर सफलता मिलती है तो उसका स्वागत है किन्तु अगर विफलता मिले, तो उसकी भी चिंता मत करो । तात्पर्य यह है कि अगर कर सको तो कर्म को पूजा समझ कर करो क्योंकि प्रत्येक मनुष्य में चाहे वह कितना ही खराब क्यों न हो ईश्वर का आवास होता है। कर्मयोग के कठिन पथ पर चलने वाले साधक के लिये सबसे बड़ा खतरा गुण का गर्व और दूसरों की कमजोरियों को न सह पाने की क्षमता आदि होता है जिसके प्रति उसे सतर्क रहना चाहिये । स्वामी विवेकानंद के अनुसार– कर्मयोगी के लिये केवल सहिष्णुता ही यथेष्ट नही क्योंकि वहाँ सदा ही आश्रयता का भाव रहता है और आश्रयता का अर्थ ही होता है– उस व्यक्ति का बड़प्पन जो किसी को कुछ देता या मदद करता है इसलिए कर्मयोगी अगर सचमुच में पूजा के रूप में किसी की सेवा करता है तो उसकी धारण समग्र स्वीकृति भी होनी चाहिये।

कर्मयोग के पथ में बाधा उत्पन्न करने वाली ये कुछ कठिनाइयाँ है और इनमें से सबसे प्रमुख चार पथों का विस्मरण है यह आवश्यक है, क्योंकि जहाँ भक्त, ज्ञानी और राजयोगी मानव संसार को भूलने में समर्थ होते है वहाँ कर्मयोगी निरंतर विश्व में रहता है किन्तु उसका नहीं होता। लेकिन निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं है बशर्ते कि साधक अपने जीवन मे अंत तक विन्रम, लगनशील, सर्तक और कर्मठ बना रहे ।

इन सभी तथ्यों से ज्ञात होता है कि कर्मयोग में पुरूषार्थ का बड़ा महत्व है। अतः कर्म करने में कर्त्तव्य का विवेक ज्ञान द्वारा होता है। तथा पुरूषार्थ द्वारा दृढ़ता एवं वीरता के साथ राग, द्वेष, आसक्ति, एवं अंहकार रहित होकर कर्म करना कर्म का क्षेत्र है।

वासनाओं के कारण इन्द्रियां अपनी रूचि के विषयों की ओर दौड़ती है । जो अनुकूल होते है उनमें राग और जो प्रतिकूल होते है उनसे द्वेष किया करती है। इन प्रवृत्तियों को रोकने के लिये कर्मयोग में कर्म की वीरता, भक्ति के प्रेम, और ज्ञान के कार्याकार्य विवेक तीनों के संयोग एवं सहयोग की आवश्यकता है।

वासनाओं की रूचि के अनुसार कर्म करने से संस्कार उत्पन्न होते है जो जीव को संसार में फांसते है क्योंकि कर्मो का फल भोगने के लिये जीव ससांर में आने को विवश हो जाता है। इन संस्कारों से बचने के लिये इन्द्रियों को इसके दमन अथवा इन्द्रिय निग्रह अथवा दम कहते है इसके साथ ही साथ मन को भी शान्त रखा जाता है जिसे शय कहते है अतः निष्काम कर्म करने से मनुष्य सांसारिक बंधनों में नहीं फसता और न ही उसका पुनः जन्म होता है अर्थात् उसे मोक्ष प्राप्त होता है।

ज्ञानयोग

ज्ञानयोग का अर्थ है ज्ञान द्वारा मुक्ति की प्राप्ति । साधक की साधना के अनुसार उसकी साधना को नाम दिया जाता है। यदि साधक का संबंध कर्म के साथ है तो वह कर्मयोग, भक्ति के साथ है तो वह भक्तियोग और ज्ञान के साथ संबंध है तो

वह ज्ञानयोग कहलाएगा। यदि वह ज्ञान के द्वारा मुक्ति चाहता है तो वह ज्ञानयोगी कहलाएगा ।

भारतीय दर्शन में मोक्ष की प्राप्ति हेतु ज्ञान की उपादेयता जैन, बौद्ध, न्याय, वैषेशिक, सांख्य, योग, तथा वेदान्त आदि दर्शनों ने स्वीकार की है। उपनिषदों मे भी कहा गया है कि ऋतेज्ञानम न मुक्ति अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति संभव नहीं है इसके विपरीत अज्ञान, अविद्या को सबने दुख की जड़ माना है । इस अज्ञान को दूर करने वाले ज्ञान का स्वरूप कैसा है इस संबंध में अवश्य मतभेद है।

संसार की निस्सारता और आत्मा के स्वस्थ का यर्थाथ बोध होना ही ज्ञानयोग है, ज्ञानयोगी के लिये सम्पूर्ण दृश्य जगत मायारूप या मिथ्या है। स्वप्न का असत्य है केवल सच्चिदानन्द ब्रह्मा ही सत्य है। वह ब्रह्मा एक है अद्वैत है और शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। ब्रह्मा ही आत्मा है। संसार का नानात्व मिथ्या है, एकत्व ही सत है। यह एकत्व दर्शान ही ज्ञानयोग का स्वरूप है? ज्ञानयोग के इस स्वरूप का प्रतिपादन श्वेताश्वरोपनिषद में इस प्रकार किया गया है।

त्वं स्त्री त्वं पृमानरिस कुमार त्वं उत व कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचरिस त्वं जातो मवसि विश्वतोमुखः।।

श्वेताश्वर उपनिषद 4/30

अर्थात्– तू स़्त्री है तू पुरूष है, तू ही कुमार या कुमारी है, तू ही वृद्ध होकर दंड के सहारे चलता है तथा तू ही (प्रपंच रूप से) उत्पन्न होने पर अनेक रूप हो जाता है।

भगवद गीता में भी ज्ञान योग का बड़ा ही सुन्दर वर्णन मिलता है जब श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को युद्ध करने हेतु सर्वप्रथम ज्ञानयोग का ही उपदेश दिया और अर्जुन को तरह–तरह से समझाते है, कि मृत्यु शरीर की होती है आत्मा की नहीं आत्मा तो अजर–अमर है इसे कोई किसी भी प्रकार का कष्ट नही पहुँचा सकता है। इसी तथ्य को समझाया है–

नैंन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैन क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूतः।। गीता 2/23

अर्थात् – कोई भी शस्त्र इसे काट नहीं सकता न अग्नि जला सकती है न ही इसको जल गला सकता है और नही वायु इसे सुखा सकती है। इस तरह यह आत्मा अच्छेध, अदाह्य, अक्लेद्य और निःसंदेह आशोष्य है।

गीता में ज्ञानयोग के अंतर्गत इसी एकत्व दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है ज्ञानी समस्त भूतों में स्थित आत्मा को ही देखता है। ज्ञानयोगी की दृष्टि में एक अद्वितीय सच्चिदानंद धन, परब्रह्म, परमात्मा ही सत्य है। परमात्मा से भिन्न सम्पूर्ण जगत मिथ्या है। इसे निम्न श्लोक के माध्यम से समझाया गया है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्या सर्वत्र समदर्शनः ।। गीता 6/29

अर्थात्–ज्ञान योगी परमात्मा में अभिन्न भाव से स्थित हो सम्पूर्ण आत्मा में एक अद्वितीय आत्मा (ब्रह्म) को ही देखता है, तथा समस्त चराचर जगत को आत्मा में ही स्थित देखता है। ऐसे ब्रह्मभूत योगी को ही योगयुक्तात्या अथवा ब्रह्मयोगयुक्तात्मा कहा गया है। ब्रह्मभूत होने के कारण उसे सारी सृष्टि ब्रह्ममय दिखाई देती है । कण–कण में परमात्मा का स्वरूप झलकता है गीता में कहा गया है कि–

योमा पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति ।

तस्यांह न प्रणयामि स च मे न प्रणश्यति।। गीता 6/30

अर्थात् – जो पुरूष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मस्वरूप मुझ वसुदेव को ही व्यापक देखता है, और संपूर्ण भूतों को मुझ वसुदेव के अंतर्गत देखते है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं। कहने का आशय यह है कि जैसे बादल में आकाश और आकाश में बादल है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतों में वसुदेव है और वसुदेव में सम्पूर्ण भूत है इस प्रकार जो पुरूष एकीभाव में स्थित होकर मुझ वसुदेव को भजता है उसके अनुभव में मेरे सिवाय अन्य कुछ हैं ही नहीं ।

गीता में ज्ञानयोगी को समदर्शी कहा गया है ज्ञान के कारण वह सम्पूर्ण चराचर को समभाव से देखता है उसमें कभी विषय भाव नहीं उत्पन्न होता । गीता में कहा गया है कि–

विद्याविनयं संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैवश्रपाके च पण्डिताः सम दर्शिनः।। गीता – 5/18

अर्थात् – ऐसे वे ज्ञानीजन विद्या और विनय भक्त ब्राह्मण में तथा गो, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समभाव से देखने वाले ही होते है। क्योंकि तत्वज्ञानी सबको ब्रह्मस्वरूप या आत्मस्वरूप मानता है ब्राह्मण और चण्डाल में व्यावहारिक दृष्टि से भेद है परन्तु पारमार्थिक (आत्मदृष्टि) से अभेद है। इसी दृष्टि से भगवान कृष्ण ने गीता में अन्यत्र कहा है कि–

यदाभूत पृयम्मावमेकस्थमनु पश्यति ।

तत् एव च विस्तारं ब्रहा सम्पद्यते तदा।। गीता– 13/30

अर्थात्–जिस क्षण पुरुष भूतों से पृथक भावों को एक परमात्मा में ही स्थित तथा उस परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है उसी क्षण वह सच्चिदानन्द धन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।

संक्षेप में गीता में ज्ञानयोग के मुख्य तीन स्वरूप बतलाये गये हैं ।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरभेव च । गीता – 13/15

सारी सृष्टि बह्ममय है, चराचर जगत का प्रत्येक पदार्थ परमात्मा स्वरूप है। समस्त चराचर भूतों के बाहर भीतर एकमात्र परमात्मा ही है ।

तद बुद्वयस्तदात्मानस्त न्तिष्ठास्तत्परायणाः। गीता– 5/17

जो कुछ दृश्यमान है, वह माया है क्षणिक है, विनाशी है, यथार्थ में केवल एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है, इस प्रकार के भाव से परमात्मा में तद्रूप हो जाना (डूब जाना) ही एकीभाव की परम स्थिति है ।

थोऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तधान्तर्ज्योतिरेवयः। गीता– 5/24

प्रतीयमान विश्व ब्रह्म है । ब्रह्म ही आत्मा है, अतः सम्पूर्ण विश्व आत्मरूप है चराचर सब ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है, इस भाव को उदय होने से मनुष्य आत्मदृष्टा हो जाता है । वह आत्मा में ही सुख का अनुभव करता है, आत्मा में ही रमण करता है, आत्मा में ही जगत के प्रकाश पुंज का अनुभव करता है।

ज्ञानयोग भक्ति एवं कर्मयोग का पूरक है । कर्मयोग के लिये भी शक्ति एवं ज्ञान आवश्यक है, कर्म से कर्तृत्वाभिमान ज्ञानयोगी ही छोड़ सकता है और ईश्वर में कर्मों का समर्पण भक्तियोग का साधक ही कर सकता है । गीता में प्रतिपादित ज्ञान योग अन्य ज्ञानमार्ग से विलक्षण है । गीता का ज्ञानयोग विशिष्ट है ज्ञानवादी है जिसे मोक्ष प्राप्ति का साधन बतलाते हैं, वह चित, अचित् प्रकृति पुरुष का विवेक ज्ञान है । परन्तु गीता सम्मत ज्ञान आत्मा की एकता का सम्पूर्ण अनुभव है।

ज्ञान और भक्ति परस्पर पूरक है, ज्ञान के बिना सच्ची भक्ति नहीं हो सकती। श्री रामचरित मानस में भी कहा है– जाने बिनु होय परतीती, बिनु परतीत होय नहिं प्रीति । भक्ति के लिये ज्ञान आवश्यक है । ज्ञानी होने पर सच्ची भक्ति का उदय होता है । बिना भक्ति के ज्ञान नीरस है और बिना ज्ञान के भक्ति अंधी है। ज्ञानी भक्त को प्रथम स्थान देकर इस बात की पुष्टि की गई है कि ज्ञानवान भक्त ही सच्चा भक्त हो सकता है । भक्त ज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकता और ज्ञानी को भी भक्ति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । अतः ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिये गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि हे निष्पाप अर्जुन, मनुष्य लोक में मैंने पुरातन काल में (कपिल मुनि और हिरण्यगर्भ रूप में) दो निष्ठाएं बतलाई है (कपिल द्वारा) सांख्य योग की निष्ठा ''ज्ञानयोग'' से होती है और (हिरण्यगर्भ रूप से) योगियों की निष्ठा निष्काम कर्म योग से (और भक्ति योग से) होती है।'' इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान निष्ठा का दूसरा नाम साख्यनिष्ठा या कर्मसन्यास भी है । अपने समस्त कार्यों, इच्छाओं और

अपने आपको अभियान रहित होकर उस परमेश्वर में तद्‌प हो जाना (डूब जाना) ही एकीभाव की परम स्थिति है।

थोऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तधान्तर्ज्योतिरेवयः। गीता–5/24

प्रतीयमान विश्व ब्रह्म है। ब्रह्म ही आत्मा है अतः सम्पूर्ण विश्व आत्मरूप है। चराचर सब बह्म है और वह ब्रह्म में हूँ इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है, इस भाव को उदय होने से मनुष्य आत्मद्रष्टा हो जाता है । वह आत्मा में ही सुख का अनुभव करता है, आत्मा में ही भ्रमण करता है, आत्मा में ही जगत के प्रकाश पुंज का अनुभव करता है।

ज्ञानयोग भक्ति एवं कर्मयोग का पूरक है। कर्मयोग के लिये भी भक्ति एवं ज्ञान आवश्यक है, कर्म से कर्तृत्वाभिमान ज्ञानयोगी ही छोड़ सकता है और ईश्वर में कर्मो का समर्पण भक्तियोग का साधक ही कर सकता है गीता में प्रतिपादित ज्ञान योग अन्य ज्ञानमार्ग से विलक्षण है गीता का ज्ञानयोग विशिष्ट है। ज्ञानवादी है जिसे मोक्षप्राप्ति का साधन बतलाते है, वह चित्त अचित, प्रकृति पुरूष का विवेक ज्ञान है। परन्तु सम्मत ज्ञान आत्मा की एकता का स्म्पूर्ण अनुभव है।

ज्ञान और भक्ति पंरस्पर पूरक है, ज्ञान के बिना सच्ची भक्ति नहीं हो सकती। श्री रामचरित मानस में भी कहा है– जाने बिनु होय परतीती, बिनु परतीत होय नहिं प्रीति। भक्ति के लिये ज्ञान आवश्यक है, ज्ञानी होने पर सच्ची भक्ति का उदय होता है बिना भक्ति के ज्ञान नीरस है और बिना ज्ञान के भक्ति अंधी है ज्ञानी भक्त को प्रथम स्थान देकर इस बात की पुष्टि की गई है कि ज्ञानवान भक्त ही सच्चा भक्त हो सकता है। भक्त ज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकता और ज्ञानी को भी भक्ति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । अतः ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिये गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि हे निष्पाप अर्जुन मनुष्य लोक में मैंने पुरातन काल में (कपिल मुनि और हिरण्यगर्भ रूप में) दो निष्ठाएं बतलाई है (कपिल द्वारा) सांख्य योग की निष्ठा ज्ञानयोग से होती है और (हिरण्यगर्भ रूप से) योगियों की निष्ठा निष्काम कर्म योग से (और भक्ति योग से) होती है । इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान निष्ठा का दूसरा

नाम साख्य निष्ठा या कर्मसन्यास भी है। अपने समस्त कार्यो इच्छाओं और अपने आपको अभिमान रहित होकर उस परमेश्वर में वृत्ति निरोध होने पर (शुद्ध चैतन्य) स्वरूपाव स्थिति को प्राप्त होते हैं । गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा है हे अर्जुन मैं सब भूतों के हृदय में स्थित आत्मा हूँ। मैं ही सब भूतों की उत्पत्ति स्थिति और संहार रूप हूँ ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। गीता– 10/20

क्योंकि कहा गया है कि ''अहं ब्रह्मस्मि'', मैं ब्रह्म हूँ, जो हमारे सबके अंदर व्यापक हो रहा है जो असम्प्रज्ञात समाधि तथा कैवल्य की अवस्था में शेष रहा जाता है जो हमारा अंतिम लक्ष्य है किन्तु हमारा सम्पूर्ण व्यवहार त्रिगुणात्मक अहंकार द्वारा ही किया जा सकता है, राजसी, तामसी अहंकार नष्ट होने के पश्चात् केवल सात्विक अहंकार शेष रह जाता है । यह एक प्रकार से विवेक ख्याति की अवस्था है । किन्तु इस अवस्था को प्राप्त करना ज्ञानयोग में सबसे कठिन कार्य है। कठोपनिषद के अनुसार–

क्षुरस्थधारा निशिता दृश्यतया दुर्ग ध्यस्तत्कवयो वदन्ति।

कठोपनिषद–1/3/14

अर्थात्– ''परमात्मा का तत्व बड़ा गहन है । त्रिकाल ज्ञानी जन उस तत्त्व ज्ञान के मार्ग को छुरे की तीक्ष्ण की हुई दुस्तरवार के सदृश्य दुर्गम (अत्यंत कठिन) बतलाते हैं ।''

केवल भौतिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करना ही ज्ञानयोग नहीं है बल्कि तीनों गुण और उनसे निर्मित सम्पूर्ण पदार्थों से भरे अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत अथवा पांचों कोष, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदामय कोष अथवा शरीर इंद्रियों, मन, अहंकार और चित्त से परे गुणातीत शुद्ध परमात्मतत्व को जिसके द्वारा इन सबमें ज्ञान नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है, सशंय, विपर्यय रहित पूर्ण रूप से जान लेना ''ज्ञानयोग'' है ।

शंकराचार्य, ने ज्ञान योग के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के साधनों को ''साधनचतुष्टय'' के नाम से कहा है, इसके दो प्रकार हैं– बहिरंग साधन और अन्तरंग साधन विवेक, वैराग्य शम आदि और मुमुक्षत्व ये चार बहिरंग साधन है । श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि ये चार अन्तरंग साधन है ।

साधन चतुष्टयं च नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रार्थ फलयोग विरागः।
शमदमोपरतितिक्षा श्रद्धा समाधान मिति षट सम्वत मुमुक्षत्व चेति ।।

ब्रहसूत्र– शांकर भाव्य पृष्ठ 23 अध्याय 1/2

नित्यअनित्य वस्तु विवेकः 'ब्रह्म सत्य है और मिथ्या है ।' इस प्रकार का निश्चय करना ही नित्यानित्य वस्तु विवेक कहलाता है ।

वैराग्य देखकर और सुनकर इस लोक के और परलोक के भोग विलास, पदार्थों से पूर्णतः विमुख होकर किसी प्रकार की आशा न रखना ''वैराग्य'' है ।

शमः ब्रह्म साक्षात्मकार के साधनों यज्ञ, हवन, श्रवण, मनन आदि के अलावा विषयों से इन्द्रियों को लौकिक और पारलौकिक दोनों ओर से हटाकर चित्त का अपने लक्ष्य में स्थिर हो जाना ही ''शम'' कहलाता है ।

दमः– कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों को विषयों से निरोध करना ही दम है।

उपरति

वृत्ति का बाह्य विषयों का आश्रय न होना 'उपरति' है अतः फल की इच्छा न करते हुये समस्त कर्मों को परमात्मा में अपर्ण कर देना ही उपरति है ।

तितिक्षा–

सब प्रकार के कष्टों का बिना कोई प्रतिकार किये सहन करना तितिक्षा है।

श्रृद्धा–

शास्त्र और गुरू वाक्यों में अटूट विश्वास करना श्रृद्धा है, जिससे वस्तु की प्राप्ति होती है ।

समाधान–

परमात्मा को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा ही ''समाधान'' है अतः चित्त की इच्छापूर्ति का नाम ही ''समाधान'' है।

मुमुक्षत्व –

आत्मस्वरूप का परोक्ष ज्ञान हो जाने के पश्चात अज्ञान कल्पित बंधन से मुक्त हो जाने की इच्छा मुमुक्षत्व है । इस प्रकार इन छः अवस्थाओं को मिलाकर षटसम्पत्ति कहते हैं । इन बहिरंग साधनों द्वारा योग्यता प्राप्त करके मनुष्य ब्रह्म अतरंग साधनों का आश्रय लेकर ब्रह्म साक्षात्कार की ओर अग्रसर होता है ।

अंतरंग साधन चार है–

1. श्रवण 2. मनन 3. निदिध्यासन 4. समाधि ।

इस प्रकार तत्वमंसि आदि वाक्यों के द्वारा उनके जीव ब्रह्म की एकतारूपी अर्थ का अनुसंधान (शाब्दिक ज्ञान) ''श्रवण'' कहलाता है। युक्ति से उसी व्रत अर्थ की सम्भावना का ज्ञान ''मनन'' कहलाता है ।

अतः छैः प्रकार के लिङ्गों के उपक्रमाप संस्कार अभ्यास अपूर्वता हल अर्थवार? उपपत्ति द्वारा समस्त वेदान्त वाक्यों का एक ही अद्वितीय ब्रह्म में अर्थ समझना श्रवण कहलाता है । छः प्रकार के लिंगों का तात्पर्य समझकर वेदांत के अनुसार युक्तियों द्वारा ब्रह्म का चिंतन करना मनन कहलाता है ।

निदिध्यासन–

शरीर से लेकर बुद्धि पर्यन्त जितने भी जड़ पदार्थ है उनकी भिन्नता की भावना को हटाकर सबमें एकमात्र ब्रह्मविषयक विश्वास करना निदिध्यासन है ।

समाधि–

ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेदभाव दूर करके एक ही अद्वितीय ब्रह्म में चित्त वृत्ति को एकाकार करना ''समाधि'' है ।

ज्ञानमार्ग के द्वारा सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति की जा सकती है इसलिये इस मार्ग को ज्ञानयोग कहा जाता है । वैसे तो उन सभी साधनाओं को जिनमें ज्ञान को योग मानकर लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है ज्ञान योग कह सकते हैं । गीता में साख्ययोग को भी ज्ञान योग कहा गया है । परन्तु मुख्यतः वेदांत की साधना को ही ज्ञानयोग के नाम से जाना जाता है ।

ज्ञान योग के सिद्धांतों के अनुसार आत्मा आनंदस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सत्य, नित्य और सत्वस्वरूप है। अपने वास्तविक स्वरूप में आत्मा ब्रह्म ही है और एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है । ब्रह्म के अतिरिक्त इस संसार में किसी ओर की सत्ता नहीं है। ब्रह्म स्वयं प्रकाशमान, अनंत, अखंड, अविनाशी और स्वयं चेतन स्वरूप है। जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत में प्रविष्ट होकर ना–ना रूपों में प्रकट होती है, उसी प्रकार सारे जीवों की अंर्तआत्मा वह एक ही ब्रह्म अनेक रूपों में प्रकट हो रहा है ।

ज्ञानयोग के अनुसार ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाना ही मोक्ष है । दूसरे शब्दों में आनंद, आत्मक ब्रह्म प्राप्ति और शोक र्निवृत्ति ही मोक्ष है । ज्ञानियों के अनुसार यह तभी संभव है, जबकि जीव और ब्रह्म की एकता की अवस्था सिद्ध हो जाती है । जीव जो अज्ञानवश अपने को जीव मानता है वास्तव में ब्रह्म ही है। अतः ब्रह्म भाव की स्थिति में होना ही मोक्ष कहलाता है, और शरीर के छूटने पर विदेह मुक्ति कही जाती है । ब्रह्म भाव की स्थिति को प्राप्त करना ही ज्ञान योग की साधना का लक्ष्य है जो ज्ञान स्वरूप चैतन्य को अज्ञान से मुक्त कर देने पर प्राप्त होता है ।

इस साधना में जगत के मिथ्यातत्व के साथ ब्रह्म एवं आत्मा के एकीकरण का आधार होता है । इस साधना को करने पर साधक को आरंभ से ही समस्त वस्तुओं को मिथ्या रूप से जानना होता है आत्मा से अनात्मा को सर्वथा पृथक ब्रह्म रूप में जानना होता है । केवल एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है, इसका अभ्यास करना होता है । योग की साधनाओं में यह उच्चकोटि की साधना मानी गई है । इसमें ज्ञान

योग द्वारा ही ब्रह्म की प्राप्ति की जाती है । यद्यपि चित्त की एकाग्रता आवश्यक है। किन्तु अज्ञान का निवारण अत्यंत आवश्यक है । क्योंकि अज्ञान से ही बंधन है। अज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होने पर ही ब्रह्म भाव की प्राप्ति संभव है ।

इसलिये बताया गया है कि ज्ञान तथा श्रवण मोक्ष प्राप्त करने के लिये दूर के साधन है क्योंकि इनका प्रत्यक्ष फल नहीं मिलता, इनसे केवल मन की शुद्धि होती है । इस प्रकार यज्ञ, हवन आदि कार्यों से मन की पूर्ण शुद्धता होना संभव नहीं है। ये तो केवल सांसारिक साधन है फिर भी सांसारिक पुरुष के लिये ये उपयोगी है जबकि निष्काम पुरुष के लिये ये ही अंतःकरण की शुद्धता के परम साधन है, अंतरंग का अर्थ है बिल्कुल पास होना और बहिरंग का अर्थ है दूर होना, ज्ञानमार्गियों के लिये यज्ञ, हवन आदि कर्म व्यर्थ बताये हैं ।

श्रवण व मनन ज्ञान के दो साधन है परन्तु साक्षात्कार के लिये आवश्यक नहीं है । ज्ञान का सच्चा साधन महा वाक्य है परन्तु श्रवण, मनन आदि से बुद्धि की शंकायें और विपरीत भावनायें नाश होती है ।

वेदांत के वाक्य मनुष्य को ब्रह्म की ओर ले जाने में सक्षम है । बुद्धि की शंकायें और विपरीत भावनायें ज्ञान के मार्ग से रोड़ा अटकाती है, परन्तु उन्हें श्रवण, मनन और निदिध्यासन से दूर किया जा सकता है ।

वेदांत वाक्यों से यर्थाय ज्ञान प्राप्त होता है, वेदांत वाक्य भी दो प्रकार के हैं, अवान्तर वाक्य और महाकाव्य । अवान्तर वाक्य जीव और ब्रह्म का संबंध समझाते है और दोनों की भिन्नता दर्शाते है, महाकाव्य जीव और ब्रह्म की एकता समझाते है। उदाहरण के लिये ''ब्रह्म'' है यह अवान्तर वाक्य है । ''मैं ब्रह्म हूँ''। यह महाकाव्य है । इसमें ब्रह्म और जीव की एकता है । वास्तव में वेदांत के महाकाव्य ही ज्ञान के सच्चे साधन है तथा मोक्ष प्राप्ति का द्वार है।

राजयोग

जैसे राजा मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ होता है । ठीक वैसे ही राजयोग योग के सभी प्रकारों में प्रमुख कहा जा सकता है । इसको ध्यान योग, सांख्य योग, ज्ञान योग, अभ्यास योग आदि शब्दों से भी कहा गया है ।

मुख्यतः राजयोग का तात्पर्य पंतजलि के अष्टांग योग से है ऐसा माना जाता है । पतंजलि के अनुसार– चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है। मन को शुद्ध, शांत एवं स्थिर करना तथा अपने बस में करना जिससे, कि उसमें आत्मज्ञान का उदय हो जाये यही राजयोग की विशेषता है ।

चित्त इंन्द्रियों द्वारा सांसारिक विषयों की ओर दौड़ता है यह इसकी वृत्ति है। इन बर्हिमुख वृत्तियों को अर्न्तमुख करना ही योग है ।

मन, बुद्धि और अहंकार को 'चित्त' कहते हैं । मन की चंचलता प्रसिद्ध है ज्ञानेन्द्रिंय मस्तिष्क के अंतर्गत स्नायु केन्द्र से जुड़ी हुई है और मन इन्द्रियों के साथ संयुक्त रहता है । प्रत्येक वस्तु का अनुभव तभी होता है जब मन वस्तु से उत्पन्न संवदेना को बुद्धि के सामने पेश करता है, तब बुद्धि से प्रतिक्रिया होती है जिससे अहंभाव जाग उठता है । यह मिश्रित रूप पुरुष अर्थात् आत्मा के सम्मुख लाया जाता है और वह वस्तु का अनुभव करता है । अतः पांचों इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार को मिला कर अंतःकरण चित्त कहते हैं । चित्त की पांच अवस्थायें होती है।

1. मूढ़ावस्था
2. क्षिप्तावस्था
3. विक्षिप्तावस्था
4. एकाग्रावस्था
5. निरूद्धावस्था ।

1. मूढ़ावस्थाः

यह तमोगुणी होती है । यह काम क्रोध, लोभ, मोह के कारण उत्पन्न होती है, इसमें मानव प्रवृत्ति अज्ञान, अधर्म और रागात्मक होती है ।

2. क्षिप्तावस्थाः

इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है, इसका कारण राग–द्वेषादि है, यह सुख भोग प्रवृत्ति वाले मनुष्यों में अधिक पायी जाती है जिन्हें सांसारिक मनुष्य कहते हैं।

3. विक्षिप्तावस्थाः

इसमें सत्वगुण की प्रधानता होती है, यह निष्काम कर्म करने वाले मनुष्य में पाई जाती है ।

4. एकाग्रावस्थाः

जब भी विषय में वृत्तियों का प्रवाह लगातार बना रहता है, तो उसे एकाग्रता कहते है । यह चित्त की स्वाभाविक अवस्था है । इसमें चित्त के ऊपर रजोगुण तथा तमोगुण का प्रभाव नहीं पड़ता । इसकी अंतिम अवस्था को विवेक ख्याति अथवा सम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं ।

5. निरूद्धावस्थाः

सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध हो जाने से चित्त की निरोधावस्था होती है । इसमें कोई पदार्थ भी जानने में नहीं आता इसलिये इसको असम्प्रज्ञात अथवा निर्बीज समाधि कहते हैं ।

चित्त में उठने वाले विचारों को वृत्ति कहते है, अर्थात् चित्त इन्द्रियों द्वारा वाह्य विषयों से प्रभावित होकर उन जैसा रूप ग्रहण करता रहता है, पंतजलि ने कहा है–

वृत्तयः पंचतय्यः किलष्टाक्लिष्टाः।। पंतजलि योग सूत्र–1/5

अर्थात् चित्त की वृत्तियाँ पांच प्रकार की होती है क्लिष्ट और अक्लिष्ट ।

क्लिष्ट वे वृत्ति है जिनसे दुख या क्लेश उत्पन्न होता है, और अक्लिष्ट वृत्तियां वे हैं जिनसे क्लेशों का नाश होता है वे इस प्रकार है ।

प्रमाण विपर्ययविकल्प निद्रास्मृतयः। पतंजलि योग सूत्र–1/6

प्रमाण, विपर्य, विकल्प, निद्रा, स्मृति ये पांच प्रकार की वृत्तियाँ है ।

प्रमाणः "जिस वृत्ति से यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, उसका नाम प्रमाण है।

विपर्यः झूठा ज्ञान अर्थात् जैसा अर्थ न हो और उससे प्राप्त होने वाला ज्ञान विपयर्य कहलाता है । जैसे– रस्सी में सर्प का ज्ञान विपयर्य है ।

विकल्पः शब्द से उत्पन्न जो ज्ञान उसके पीछे चलने का जिसका स्वभाव हो और जो वस्तु की सत्ता की अपेक्षा न रखता हो इस प्रकार का ज्ञान विकल्प कहलाता है।

निद्राः जाग्रत तथा स्वप्नावस्था की वृत्तियों के अभाव की प्रतीति को आश्रय करने वाली वृत्ति निद्रा है ।

स्मृतिः अनुभव किये हुये विषय का फिर चित्त में आरोहपूर्वक उससे अधिक नहीं, किन्तु तन्मात्रविषयक ज्ञान होना स्मृति है । अर्थात् किसी भी वस्तु का अनुभव होने पर समय और स्थिति के अनुसार उसकी याद आना स्मृति है ।

पतंजलि ने पांच प्रकार के क्लेश बताये है जो इस प्रकार है–

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।। पतंजलि योग सूत्र– 2/3

अर्थात् – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पांच प्रकार के क्लेश हैं । ये पाँचों पीड़ा को उत्पन्न करते हैं क्योंकि इनसे झूठा ज्ञान ही प्राप्त होता है । इसका कारण अविद्या ही है, अतः वस्तु का वास्तविक ज्ञान न होने के कारण ही दुख होता है । अनित्य में नित्य का ज्ञान, अपवित्र में पवित्रता का ज्ञान होना ही अविद्या है। दृक शक्ति तथा दर्शन शक्ति की एकरूपता ही अस्मिता है । सुख भोग प्रवृत्ति के पीछे चित्त में उसके भोग की इच्छा बनी रहती है उसी का नाम राग है । यह राग ही द्वेष का कारण है । जब इच्छित वस्तु प्राप्त नहीं होती तब मन को दुखी प्रतीत होता है, और दुख के अनुभव के पीछे घृणा और क्रोध उत्पन्न होता है । उसको द्वेष नामक क्लेश कहते हैं तथा द्वेष क्लेश ही अभिनिवेश के कारण है । मरने का भय प्रत्येक प्राणी में जन्म जन्मान्तरों से चित्त में व्याप्त रहता है । यही अभिनिवेश क्लेश है । उपर्युक्त

क्लेशों को दूर करने के लिये पतंजलि ने जिस योग का वर्णन किया है उसे राजयोग अथवा अष्टांग योग कहते हैं ।

पतंजलि के अनुसार राजयोग अथवा अष्टांगयोग के अंग निम्नलिखित है।

यमनिसमासंनप्राणयामप्रत्याहारधारणध्यानसमाध्येडष्टावगानि।

पतंजलि योग सू. 2/29

अर्थात् – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान, सामधि ये आठ अंग है।

अब इन्ही अंगों को विस्तार से समझाया गया है।

यम – यम का अर्थ है, सांसारिक प्राणियों के साथ व्यावहारिक जीवन का यज्ञों द्वारा उच्च कोटि का बनाना उसके प्रयोग से पंच क्लेशो का नाश होता है यम के अंतर्गत पाँच बाते आती है । यम के साधने से साधक के बाह्य आचरण संबंधी सुधार होता है तथा यम के द्वारा चित्त की शुद्धि होती है।

यम के प्रकार

(क) अहिंसा– अहिंसा का बड़ा व्यापक अर्थ है किसी को मन, वचन और कर्म के द्वारा किचिंत मात्र भी दुख न पहुँचाना अहिंसा है।

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सत्रिधौ वैरत्यागः। पंतजलि योगसूत्र 2/35

(ख) सत्य– इन्द्रिय और मन से जैसा देखा सुना या अनुभव किया गया है उसे वैसा ही कहना सत्य कहलाता है। ऐसा सत्य प्रिय तथा हितकर भी होना चाहिये । अप्रिय तथा अहितकर सत्य हो तो भी नहीं बोलना चाहिये, इससे दूसरों को कष्ट होता है जो हिंसा है, कपट और छल रहित व्यवहार ही सत्य व्यवहार है।

सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रमत्वम। पतंजलि योग सूत्र 2/36

(ग) अस्तेय– अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना छल से झूठ बोलकर बेईमानी से किसी भी प्रकार से दूसरे के स्वत्य का अपहरण करना चोरी है जिस पर स्वंय का न्यायोचित अधिकार नहीं है, उसे लेना भी चोरी है।

घूस लेना, सरकारी धन की चोरी करना, टैक्स की चोरी करना, झूठे बिल बनाकर सरकारी धन को नाजायज तरीके से प्राप्त करना आदि चोरी है। इस प्रकार के धन को न प्राप्त करना ही अस्तेय है। यह भी आचरण शुद्धि है।

अस्तेय प्रतिष्ठाया सर्वरत्नोपस्थानम्। पंतजलि योगसूत्र 2/37

(घ) ब्रहमचर्य – मन वाणी तथा शरीर से शुद्ध आचरण करना ब्रहमचर्य है । योग साधना में इसका विशेष महत्व है। वही उर्जा योग उपलब्धि में सहायक होती है

ब्रहमचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। पं. योग सूत्र 2/38

(ड) अपरिग्रह– योगी को या साधक को सात्विक जीवन व्यतीत करना चाहिए । आवश्यकता से अधिक धन एवं सामग्री का परिग्रह (संचय) करने से मन कई प्रकार की उलझनों में पड़ जाता है जिससे वह स्थिर नही रह सकता और स्थिर हुये बिना योग साधना संभव नहीं है। इन आचरणों के पालन से ही बाह्य शुद्धि होती है जिससे साधना में सहायता मिलती है।

अपरिग्रहस्थैर्य जन्मकथन्तासम्बोधः। पं.यो योग सूत्र 2/39

(2) नियम– यमों के पालन से बाहय शुद्धि होती है, तो नियमों के पालन के भीतर की शुद्धि होती है ये नियम पतजलि ने इस प्रकार बतलाये है।

शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानि नियमः।।

पंतजलि योग सूत्र 2/32

पतंजलि के अनुसार शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान ये पांच नियम हैं शौच दो प्रकार का होता है। बाह्य और अभ्यांतर, शरीर के बाह्य अंगों प्रत्यंगों की सफाई करना बाह्य शौच से मन पवित्र होता है जिससे एकाग्रता बढ़ती है तथा

आत्मा को देखने की योग्यता प्राप्त होती है इसलिये इनका जीवन में बहुत महत्व है इसलिये यम नियम को महाव्रत भी कहा गया है इनका वर्णन इस प्रकार है।

(क) शौच– शरीर, वस्त्र, मकान की पवित्रता, न्यायपूर्वक धन प्राप्त करना शुद्ध एवं सात्विक भोजन करना, सबके साथ पवित्र व्यवहार करना विचारों को शुद्ध घृणा कोध्र आदि मलों का नाश करना यह भीतर की पवित्रता है। इसे शौच कहा जाता है।

(ख) संतोष– जिस अवस्था परिस्थिति में रहना पड़े उसी अवस्था में सुखपूर्वक रहना कर्तव्य कर्म करते हुये जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी में रहना वासनाओं को न बढ़ाना किसी प्रकार की कामना तृष्णा न करना दूसरों की संप्रदा (सम्पत्ति) देखकर ईर्ष्या न करना ही संतोष कहलाता है । इनसे वृत्तियाँ शांत होती है। कहा गया है कि संतोष परसुखम संतोष महान सुख देने वाला है। परिश्रम के पश्चात जो फल प्राप्त हो उसमें प्रसन्नचित रहना ही संतोष है ।

सन्तोषाद नुप्तमः सुखलाभः। पंतजलि योगयूत्र 2/42

(ग) तप– सभी परिस्थितियों में देह को सयमित रखना ही तप है। इससे शरीर इन्द्रिया, मन और प्राण शुद्ध होकर निरोग रहते है । तप का अर्थ है, कि साधना काल में जो शारीरिक तथा मानसिक कष्ट प्राप्त हो उन्हें सहर्ष ईश्वर इच्छा मानकर स्वीकार करना अथवा पूर्व जन्मों के कर्मों का फल समझकर स्वीकार करना तथा प्रतिक्रिया न करना ।

साधनाकाल में व्रत, उपवास, स्वधर्म पालन, स्वकर्तव्य पालन, नियम, संयम आदि जितने भी शास्त्रोक्त कर्तव्य कर्म है उन्हे निष्ठा एवं ईमानदारी से फलइच्छा का त्याग करते हुये करना तथा इनसे जो भी कष्ट हो उसे सहन करना ही तप है ऐसे तप से अन्तः करण शुद्ध होता है।

कायेन्द्रिया सिद्धि शुद्धि क्षयात्तपसः। पंतजलि योगसूत्र–2/43

(घ) स्वाध्याय— वेद, शास्त्र, उपनिषद आदि ग्रंथों का अध्ययन मंत्रों का जप स्वाध्याय कहलाता है। इससे इष्टदेवता प्रसन्न होते है तथा स्वाध्याय में उन ग्रंथों का अध्ययन भी सम्मिलित है जिससे साधक की योग में रूचि बढ़ती है। अपने कर्तव्य का बोध होता है तथा चित्त में वैसी ही भावना का उदय होता है। यह स्वाध्याय साधक के लिये मार्ग दर्शक होता है इससे चित्त निर्मल होता है। इससे भी ऊपर है, स्व का अध्ययन, ध्यान की स्थिति में अपने स्वरूप का ध्यान करना आत्मा, ओंकार, ईश्वर का ध्यान करना, मंत्र जाप करना, आत्मा एवं परमात्मा में वैध संबंध बनाने की क्रिया ही स्वाध्याय है । इनसे स्वयं के दोष दूर होकर चित्त वृत्तियों का निरोध होता है।

स्वाध्याया दिष्ट देवता सम्प्रयोगः। पतंजलि योग सूत्र —2/44

(ङ) ईश्वर प्राणिधान— ईश्वर की भक्ति, पूजा, अर्चना, आराधना आदि को फलसहित ईश्वर को समर्पण कर देना ईश्वर प्राणिधान है। इससे समाधि की प्राप्ति होती है। ईश्वर प्राणिधान वह साधन है जिससे साधक पूर्ण रूप से अपना शरीर मन. बुद्धि अहंकार सहित ईश्वर को समर्पित कर देता है। वह अपना निजित्व समाप्त कर ईश्वर की मर्जी के अनुकूल कार्य करता है । वह अपने को खाली कर देता है जिससे ईश्वर उसका हाथ थाम लेता है वह समस्त कर्म ईश्वर के समझकर उसी की आशा से करता है तथा उसका फल भी उन्हीं को अर्पित कर देता है ऐसा साधक कर्म संचय नहीं करता, जिससे उसकी चित्त वृत्तिया स्वतः ही समाप्त हो जाती है जिससे वह मोक्ष का अधिकारी होता है।

समाधि सिद्धिश्वंर प्राणिधानात्। पतंजलि योग सूत्र—2/45

(3) आसन— पतंजलि ने आसन की परिभाषा देते हुये कहा है कि स्थिर सुखम आसनम अर्थात स्थिर और सुखपूर्वक जिसमें बैठा जा सके वह आसन है इसके द्वारा शरीर की चंचलता आलस्य आदि दूर होते है। इसलिये इस सूत्र में कहा गया है कि

आसन किसी भी प्रकार का भी हो किन्तु जिसमें लंबे समय तक बिना कष्ट का अनुभव किये हुये स्थिर अवस्था में बैठा जा सके वही आसन श्रेष्ठ है।

जिसको जो सुविधा जनक हो वह उसी का उपयोग करें । किसी भी आसन में यदि साधक लंबे समय तक सुखपूर्वक बिना शरीर को हिलाये ढुलाये बैठ सकता हो तो उसको वह आसन सिद्ध कह सकते हैं।

स्थिरसुखम आसनम्। पतंजलि योगसूत्र – 2:46

(4) प्राणायाम– श्वास और प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम हैं । अतः जीवन शक्ति को वश में करने के लिये उसकी गति को रोकना प्राणायाम कहलाता है। इसके तीन अंग है। पहला पूरक अर्थात् सांस का लेना दूसरा कुभंक श्वास को रोकना बाहर श्वांस छोड़कर रोकने की स्थिति बाह्य कुम्भक अंदर रोकने को अभ्यांतर कुम्भक कहते हैं। रेचक श्वास छोड़ने को कहते है प्राणायाम करने से फेफड़े हृदय मस्तिष्क और नाड़ियों की कार्य क्षमता बढ़ती है तथा आत्मा का ज्ञान हो जाता है।

पतंजलि कहते है कि आसन के सिद्ध होने पर शरीर ही निष्क्रिय नहीं होता बल्कि इसका प्रभाव मन, इन्दियों तथा श्वास–प्रश्वास पर भी पड़ता है। जब शारीरिक चेतना किसी विषयवस्तु में पूर्णता केन्द्रित हो जाती है तभी आसन सिद्धि होती है तथा इसके फलस्वरूप श्वास प्रश्वास की गति अपने आप रूक जाती है इसी को प्राणायाम कहते है । शरीर के साथ जबरदस्ती करके श्वास को रोके रखना प्राणायाम नहीं है अभ्यास से ऐसा करना संभव है किन्तु योग से उसका कोई संबध नहीं है पतंजलि के अनुसार प्राणायाम की सिद्धि से पूर्व आसन को सिद्ध करना आवश्यक है ।

तस्मिनसतिश्वासप्रश्वासयोगर्तिविच्छेदः प्राणायामः।

पतंजलि योग सूत्र–2:49

(5) प्रत्याहार–

अष्टांग योग का पाँचवा अंग प्रत्याहार है, चित्त की वृत्तियों का संचालन या क्रियान्वयन शरीर तथा इन्द्रियों के माध्यम से होता है । मन की क्रिया के संचालन का कार्य विषयों का चिंतन होना है । प्राणायाम के सिद्ध होने पर मन स्थिर हो जाता है जिससे वह विषयों का चिंतन छोड़कर अपने इष्ट के ध्यान में लग जाता है चिंतन के छूटने से इन्द्रियों की बाह्य वृत्तियाँ अपने आप छूट जाती है तथा ये चित्त में विलीन हो जाती है । जिस प्रकार कछुआ भय उपस्थित होने पर अपने अंग भीतर छिपा लेता है, उसी प्रकार ये वृत्तियाँ सिकुड़कर मन में विलीन हो जाती है । ये नष्ट तो नही होती, किन्तु बाह्य स्वरूप लुप्त हो जाता है । इनका विषयों के प्रति भागना बंद हो जाता है यही प्रत्याहार कहलाता है। संक्षिप्त में इन्द्रियाँ सांसारिक वैभव को देखकर उनकी ओर ही दौड़ती है उनको अपने वंश में करना ही प्रत्याहार है ।

इन पाँच साधनाओं का (यम, नियम, आसन, प्राणयाम, प्रत्याहार) अभ्यास करने से साधक का मन अंतरंगों का अभ्यास करने के योग्य हो जाता है।

अब हम धारणा, ध्यान, समाधि इन तीन अतरंग या अतंर्मुखी साधनों का वर्णन करेंगे । बर्हिअंग साधनों से चित्त की वृत्तियों का समस्त भटकाव समाप्त हो जाता है तथा मन पूर्णतया स्थिर एवं नियंत्रण की स्थिति में आ आता है। इसके बाद मन को चित्त में तथा चित्त को अपने कारण में विलीन करने का कार्य इन अतरंग साधनों द्वारा पूरा करना होता है तभी अंतिम उपलब्धि कैवल्य की प्राप्ति होती है।

ततः परमावश्यतेन्इद्रिंयाणाम्। पतंजलि योगसूत्र – 2/55

(6) धारणा– जब चित्त का समस्त भटकाव समाप्त हो जाता है तो वह पालतू पशु की भांति साधक के पूर्ण नियंत्रण में आ जाता है। इसके बाद साधक इसका उपयोग मुक्ति प्राप्ति के लिये करता है। चित्त शक्ति वही है जिसका उपयोग पहले संसार की उपलब्धियों तथा भोगों में हो रहा था । अब उसका मुक्ति के लिये उपयोग करना है इस चित्त को किसी स्थान विशेष में लगाने को धारणा कहते है वह स्थान नाभि, कंठ,

हृदय, नासिकाग्र, भृकुटि, आदि शरीर के भीतरी स्थान हो सकते है अथवा सूर्य, चद्रमा, ध्रुव तारा, आदि बाह्य स्थान भी हो सकते है। इन भिन–भिन्न स्थानों पर चित्त के ठहराने को ही धारण कहते है। धारण से मन की शुद्धि होती है तथा ध्यान की अवस्था में प्रवेश करना होता है।

धारणासु च योग्यता मनसः। पतंजलि योग सूत्र 2/53

देशबन्धश्चितस्य धारणा । पतंजलि योग सूत्र 3:1

(7) ध्यान– धारण में कोई स्थान या वस्तु होती है जिस पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है तथा चित्त को उस स्थान विशेष में स्थिर किया जाता है। जब वह उसमें स्थिर रहकर निरंतर उसी में एक तार चलता रहती है तो उसी को ध्यान कहते है। ध्यान में विचारों का प्रवाह बंद हो जाता है तथा वृत्ति का प्रवाह केवल ध्येये मात्र की तरफ ही हो जाता है, अन्य कोई वृत्ति या विचार नही उठते । धारण से जहाँ मन की शुद्धि होती है, वही ध्यान से अस्मिता (मैं पन) का सुधार होता है ध्यान के स्थिर होने पर साधक का अहंकार गिर जाता है । जिसका लय समाधि में होता है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । पतंजलि योग सूत्र– 3:2

(8) समाधिः जब ध्यान सभी प्रकार के आलम्बनों को छोड़कर मन पूर्णरूपेण एकरूपता प्राप्त कर लेता है तब उसे समाधि कहते हैं ।

धारणा और ध्यान में कोई वस्तु या स्थान होता है जिस पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है । किन्तु इसमें अधिक समय तक स्थिर रहने पर जिसका ध्यान किया जा रहा है उसका स्परूप शून्य हो जाता है, उसका आभास ही मिट जाता है तथा केवल ध्येय मात्र की प्रतीति होती है । इस अवस्था को समाधि कहते हैं ।

तदेवार्थ मात्र निर्भास स्वरूप शून्यभिव समाधिः।

पतंजलि योग सूत्र– 3:3

पतंजलि के अनुसार ''वही (ध्यान) जब समस्त बाहरी उपाधियों को छोड़कर अर्थमात्र को ही प्रकाशित करता है तब उसे समाधि कहते है । अतः जब ध्यान का अभ्यास इतना प्रबल हो जाता है कि केवल ध्येय की प्रतीति होने लगती है और ध्यानकर्ता को ध्यान करने की भावना की चेतना नहीं रहती, क्योंकि ध्येय पूर्ण रूप से ध्यानकर्ता को अपने में विलीन कर लेता है। योगी ध्येय से इस प्रकार तादात्म कर लेता है कि उसे इसका आभास ही नहीं रहता कि वह किसी वस्तु का ध्यान कर रहा है या सोच रहा है । ''स्वरूप शून्य मिव'' का यही आशय है समाधि में ध्याता, ध्येय और ध्यान पूर्णतया एक हो जाते हैं और ध्येय से ध्याता की अलग भावना का लोप हो जाता है ।

समाधि के प्रकार

यौगिक ग्रन्थों में समाधि के मुख्य दो प्रकार पाये जाते है । पहला सम्प्रज्ञात अथवा सजीव समाधि, दूसरा असम्प्रज्ञात अथवा र्निबीज समाधि ।

किसी भी ध्यान में तीन श्रेणियां होती है ।

(1) ध्याताः अर्थात ध्यान करने वाला व्यक्ति ।

(2) ध्येयः ध्यान की वस्तु जिस पर ध्यान किया जाता है ।

(3) ध्यानः अतः ध्यान करने की क्रिया ।

सम्प्रज्ञात समाधि–

बिना आलम्बन के कोई ध्यान प्रारंभिक दशा में नहीं हो सकता । यह आलम्बन बहुत काल तक विद्यमान रहता है । इस प्रकार की समाधि का नाम सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि है । इससे चित्त एकाग्र की दशा में रहता है इसके अभ्यास से साधक का चित्त जब वृत्तियों से निरूद्ध हो जाता है अर्थात् यह पूर्व आलम्बन भी धीरे–धीरे नष्ट हो जाता है और चित्त जब वृत्तियों से निरूद्ध निरालम्ब दशा में पहुंचकर

निरूद्ध हो जाता है । इसे असम्प्रज्ञात कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि एकाग्र चित्त में सम्प्रज्ञात समाधि और निरूद्ध चित्त में असम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है ।

पतंजलि के अनुसार सम्प्रज्ञात समाधि के चार प्रकार होते है वितर्क, विचार, आनंद और अस्मिता इन चारों के संबंध से युक्त जो समाधि है वह सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।

वितर्क विचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः।

पतंजलि योग सूत्र–1 / 17

अतः जिससे ध्येय (जिसका ध्यान किया जाय) वस्तु का स्वरूप अच्छी प्रकार अर्थात् संशय और विपर्यय (अविद्या) के रहित यर्थाथ रूप से जाना जाता है उस भावना विशेष का नाम सम्प्रज्ञात है । इस भावना विशेष को ही सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं । सभी समाधियों में मन को अन्य सब विषयों से हटाकर केवल एक ध्येय वस्तु को बार–बार चित्त में रखने का नाम भावना है । इस तरह की भावना या ध्यान के विषय दो प्रकार के होते है । एक तो चौबीस जड़ तत्व और दूसरा चेतन पुरुष अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म ।

(1) विर्तकानुगत समाधिः

इस प्रकार की समाधि में वाह्य स्थूलभूत ही ध्यान के विषय होते हैं, जैसे अग्नि, जल, वायु , आकाश आदि का आलंबन किया जाता है । उसे सविर्तक कहते हैं । विर्तक, का अर्थ है प्रश्न और सवितर्क का अर्थ है प्रश्न सहित, उन स्थूल मतों से पूंछना, जिससे वे अपने अन्तर्निहित सत्य और अपनी सम्पूर्ण शक्ति को अपने ऊपर ध्यान करने वाले पुरुष को दे दें । इसी को सविर्तक कहते हैं । किन्तु सिद्धियाँ प्राप्त करने का अर्थ है तीव्र दुनियादारी तथा अन्त में दुख को और अधिक बढ़ाना क्योंकि सिद्धियों से मुक्ति नही मिलती वे तो भोग के साधन मात्र है जब मनुष्य यह बात जान जाता है कि सुख भोग का अन्वेषण क्या है तब वह मुक्त हो जाता है। फिर

भी उसी ध्यान में जब उन भूतों को देश और काल से अलग करके उनके स्वरूप का चिन्तन किया जाता है। तब उस समाधि को निर्वितर्क समाधि कहते है।

(2) विचारानुगत समाधि–

जब विर्तक अनुगत द्वारा आगे बढ़कर तनमात्राओं को ध्यान का विषय बनाया जाता है और उन्हें देश काल के अंतर्गत समझकर उन पर ध्यान किया जाता है तब उसे सविचार समाधि कहते है। जब किसी समाधि में देश काल के अतीत जाकर उन सूक्ष्म भूतों के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है तब उसे निर्विचार समाधि कहते है।

(3) आनन्दानुगत समाधि–

इसमें सूक्ष्म और स्थूल दोनों भूतों का चिंतन छोड़कर इन्द्रियों को ध्यान का विषय बनाया जाता हैं जब इन्द्रियों को रज और तम से रहित केवल सात्विक गुण से सोचा जाता है तब उसे आनन्दानुगत समाधि कहते है।

(4) अस्मिता समाधि–

जब स्वयं मन ध्यान का विषय होता है, जब ध्यान बिल्कुल एकाग्र हो जाता हे संपूर्ण स्थूल और सूक्ष्म भूतों की भावनाओं का त्याग कर दिया जाता है, केवल अंहकार की सत्ता शेष रह जाती है तब उसे अस्मिता समाधि कहते हैं।

ये चारों प्रकार की समाधिया आलम्बन और सबीज भी कहलाती है। सालम्बन इसलिये कि ये किसी ध्येय का आलम्बन, सहारा बनाकर की जाती है और यह आलम्बन ही बीज है, इसलिये इसका नाम सबीज समाधि भी है अतः इस समाधि में साधक स्थूल से आरंभ कर सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर विषयों का ध्यान करता है यही साधना की प्रक्रिया है। वितर्कानुगत समाधि में केवल सूक्ष्म का चिंतन किया गया है तथा पदार्थ का चितंन किया जाता है। तथा सूक्ष्म का ध्यान करना सानन्द समाधि कहलाता है। इन्द्रियाँ विषयों के ग्रहण करने का द्वार होती है, इसीलिये यह समाधि

''ग्रहण सभापति'', कहलाती है और सबके अन्त में बुद्धि का ध्यान किया जाता है। यह सूक्ष्मतम होता है, और इसी को अस्मिता समाधि कहते हैं। अर्थात् साधक को यह विवेक ज्ञान हो जाता है कि आत्मा यथार्थ रूप से शरीर, मन तथा अहंकार सभी से भिन्न हैं ।

(5) असम्प्रज्ञात समाधिः

असम्प्रज्ञात समाधि की अंतिम दशा में भी चित्त के लिये कोई न कोई आलम्बन बना रहता है, चाहे वह कितना भी सूक्ष्म क्यों न हो, परन्तु लगातार ध्यान करते रहने से चित्त का संबंध सब विषयों से छूट जाता है । यहीं असम्प्रज्ञात या निर्जीव समाधि कहलाती है । इस समय चित्त में कोई वृत्ति नहीं रहती किन्तु वृत्तियों को हटाने वाला निरोध का परिणाम रहता है। आरंभ में असम्प्रज्ञात बहुत कम समय के लिये होती है। किन्तु जैसे–जैसे सूक्ष्म संस्कारों का निरोध होता जाता है, वैसे–वैसे अधिक समय तक रहने वाली होती जाती है । अंतर में जब निरोध के संस्कार संपूर्ण संस्कारों को नष्ट कर देते हैं, तब वे स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं । तब शरीर छोड़ने पर चित्त बनाने वाले गुण अपने–अपने कारण में लीन हो जाते हैं, और आत्मा अपने कारण में लीन हो जाता हैं और आत्मा अपने विशुद्ध चैतन्य में प्रतिष्ठित हो जाता है, अर्थात् यह केवल असंयुक्त रूप से विद्यमान होता है । इसी दशा को कैवल्य कहते हैं ।

''वृहदारण्यक उपनिषद'' में कहा गया है कि –

यो अकामों निष्काम अल्पकाम आत्मकामों ।
न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रहमेव सन ब्रहमाप्येति ।।

वृहदारण्यक उपनिषद– 4/4/6

अर्थात्–जो कामनाओं से रहित है, जो कामनाओं से बाहर निकल गया है, जिसकी कामनायें पूरी हो गयी है, अर्थात् जिसको केवल आत्मा की कामना है उसके प्राण और इंद्रियां नहीं निकलते । वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म को पहुंचता है ।

यह तभी संभव है जब चित्त की वृत्तियों के साथ–साथ सूक्ष्म संस्कारों का भी निरोध पूर्णरूपेण हो । इस प्रकार के कैवल्य को यथोमुक्ति भी कहते हैं एवं मोक्ष का यही ध्येय है ।

इससे स्पष्ट होता है कि अष्टांग योग धीरे–धीरे अभ्यास एवं वैराग्य के सतत् प्रयास से समाधि तक पहुंच जाते है । जिसके द्वारा पदार्थों एवं तत्वों का सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वरूप का साक्षात्कार होकर उसकी वास्तविकता का पुनः संदेह नहीं रहता तथा यह क्लेशों का निवारण करके मोक्ष का द्वारा खोल देता है ।

श्वेताश्वरोपनिषद के अनुसार–

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशाप हानिः क्षीणोः क्लेशेर्जन्मृत्युप्रहाणिः ।
तस्या मिथ्यानात तृतीयं देहमदे विश्वेश्वर्य केवल आप्तकामः।।

श्वेताश्वरोपनिषद–1 / 11

अर्थात्– उस परम पुरुष परमात्मा का ध्यान करते–करते जब साधक उसको जान लेता है तब समस्त बन्धनों का नाश हो जाता है । क्लेशों का नाश हो जाने के कारण जन्म मृत्यु का सर्वथा अभाव हो जाता है । इस शरीर का नाश होने पर स्वर्ग तक के समस्त ऐश्वर्यो का त्याग करके केवल सर्वथा विशुद्ध कैवल्य पद को प्राप्त हो जाता है ।

अंततः हम यह कह सकते है कि राजयोग चारों योगों में से संभवतः सबसे अधिक वैज्ञानिक और व्यावहारिक है । मन के अवचेतन की गहराई और, परम चेतना की ऊँचाई के जिस व्यापक ज्ञान पर पतंजलि ने अपने दर्शन का प्रतिपादन किया है, उसे देखकर आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी उनसे ईर्ष्या कर सकता है । यह योग हमें किसी भी वस्तु को मानने के लिये बाधित नहीं करता । यह तो सहज ढंग से कहता है कि कोई भी व्यक्ति जो लगन के साथ निर्देशों का पालन करेगा वह अपनी क्षमता के अनुसार कुछ न कुछ परिणाम अवश्य प्राप्त करेगा, और ये परिणाम उसके विश्वास की रक्षा करेंगे और उसे गतिशील होने के लिये प्रोत्साहित करेंगे । अतः यह

स्पष्ट है कि अन्य दूसरी साधनाओं की तरह ही शीघ्र परिणाम केवल वे व्यक्ति ही प्राप्त कर सकते हैं जो उच्च शक्ति सम्पन्न है ।

यह स्पष्ट है कि राजयोग की साधनायें दूसरे योगों खासतौर से भक्तियोग और ज्ञानयोग की सफलतापूर्वक अनुगमन के लिये एक अनिर्वाय आधार का निर्माण करती है । न तो भक्त और न ही ज्ञानी ध्यान की साधना को किसी भी रूप में कभी भी त्याग सकता है । अतः आसन, प्रत्याहार, धारणा आदि की साधना एवं पतंजलि द्वारा अन्वेषित नैतिक गुणों का अभ्यास किसी न किसी रूप में आवश्यक हो जाता है । वास्तव में इन तीनों योगों की विभाजक रेखा व्यवहारिक और दार्शनिक है और यह मुख्य रूप से विद्वानों और दार्शनिकों के चिंतन का विषय है। लगनशील साधक जिसे सत्यानुभूति की भूख है, वह कभी भी इन भेदों को देखने की परवाह नहीं करेगा । वह अपने सत्यज्ञान की ललक में जहां से भी संभव हो, मदद और प्रकाश पाने की चेष्टा करेगा ऐसा व्यक्ति ही मोक्ष को प्राप्त होता है ।

लययोग

लययोग को कुण्डलिनी योग, षटचक्र भेदन एवं भूत शुद्धि के नाम से जाना जाता है । सभी योगों के समान इसकी भी अपनी कुछ विशेषताएं है । योग तत्व उपनिषद के अनुसार –

लययोगमश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः।

गच्छस्तिष्ठंस्वपन भुजनध्यायेन्निष्फलमीरषरम।।

योग तत्व उपनिषद–23

अर्थात – श्वांस को रोकने के साथ–साथ मन को एकाग्र चित्त करना ही लययोग है ।

इससे स्पष्ट होता है कि प्राण और मन का संबंध अभेद है, प्राण का विलय होने का अर्थ है उसकी वृत्ति का ब्रहारन्ध्र रूप शून्य में लय हो जाना ही

लययोग कहलाता है । यदि मन का लय नहीं होता तो प्राण का लय भी नहीं हो सकता है।

योग वशिष्ठ में कहा गया है कि –

प्राणशर्का निरूद्वायां मनोराम विलीयते।
द्रव्यच्छायानुतदृदृव्य प्राण रूपं हि मानसम।।

योग वशिष्ठ–5/13/83

अर्थात– ''जो प्राण और मन दोनों का लय कर लेता है । वही मोक्ष को प्राप्त होता है और कोई अन्य नहीं ।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार –

मनोयग विलीयते पवनस्तत्र लीयते ।
पवनो लीयते वत्र मनस्क्ता विलीयते।। हठयोग प्रदीपिका–4/23

अर्थात्– जहां मन विलीन होता है वहीं वायु विलीन होती है और जहां वायु लीन होती है वहां मन भी लीन हो जाता है ।

अतः मन को वश में करने के लिये प्राण के साथ इंद्रियों को भी वश में करना होता है । प्राण वृत्ति के विलीन होने से मनोवृत्ति भी विलीन हो जाती है । आगे कहा गया है कि जीवन मुक्ति को प्राप्त करने के लिये साधक श्रेष्ठ स्थान में रहकर सुषुम्ना नाड़ी के भेदन की विधि जानकर प्राण वायु का सुषुम्ना में संचार करें। यहीं कुंडलिनी के नाम से अभिहित किया जाता है। विभिन्न प्रकार की योग साधनााओं द्वारा कुंडलिनी जागृत हो उर्ध्वगामी होती है तब मार्ग में पड़ने वाले षठ्चक्रों का भेदन करती है । इसलिये इसे षटचक्र भेदन भी कहते हैं इससे शरीर शुद्धि होती है इस कारण इसे भूतशुद्धि भी कहा जाता है ।

मन्त्रयोगः

प्रयोग समवेतार्थ स्मारका मन्त्राः।। अर्थ संग्रह– पृ 106

अर्थ– संग्रह नामक ग्रंथ में कहा गया है कि– अनुष्ठान में प्रयुक्त जो दिव्यादि पदार्थ है उनका ज्ञान कराने वाला मंत्र होता है ।

अतः देवी देवताओं की पूजा करने में जो सामग्री का उपयोग किया जाता है उस सामग्री का ज्ञान कराने वाले मंत्र होते हैं ।

मानवीय जगत की अभिव्यक्ति का कारण नाम रूपात्मक है । शरीर ''रूप'' है, मन या अन्तःकरण ''नाम'' है । बोलने वाले समस्त प्राणियों में इस नाम के साथ उसके वाचक शब्दों का घनिष्ठ संबंध रहता है । व्यष्टि मानव की बुद्धि या चित्त में विचार तरंगें पहले ''शब्द'' के रूप में उत्पन्न होती है और बाद में वे स्थूल ''रूप'' धारण कर लेती है । दृश्य संसार के नाम रूपात्मक होने का कारण यह है कि प्रत्येक भाव ही नाम तथा रूप के द्वारा संसार में प्रकट होता है कि जिस प्रकार व्यष्टिजगत में प्रत्येक भाव का प्रकाश नाम और रूप के द्वारा देखा जाता है उसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि में भी परमात्मा के चित्त का सृष्टि के लिये इच्छा रूपी भाव नाम रूपात्मक जगत से प्रकट होता है । सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ब्रह्म ने पहले अपने को ''नाम'' के और बाद में ''रूप'' के आकार में अभिव्यक्त किया है । अतः यह सारा जगत ''रूप'' है और इसके पश्चात् समस्त जगत की अभिव्यक्ति का कारण शब्द ब्रह्म है।

पतंजलि के अनुसार–

तस्य वाचकः प्रणवः । पतंजलि योगसूत्र – 1/27

अर्थात्– उस ईश्वर ब्रह्म का एकमात्र वाचक शब्द ''ऊँ'' है ।

मंत्र योग में ऊँ का महत्व –

इस ब्रह्म, ईश्वर या हिरण्यगर्भ और वाचक प्रणव में अनादि संबंध है । यह प्रणवध्वनि केवल ध्यान द्वारा अनुभव करने योग्य है । उसका मुख से उच्चारण होना असंभव है, इसके बाद भी जो प्रणव मन्त्र उच्चारण किया जाता है, वह तीन अक्षर मंत्र है अर्थात् अ, उ, म, जिनका एक साथ उच्चारण करने से 'ऊँ' होता है । जिनके

तीनों अक्षरों में त्रिगुणमयी प्रकृति क्रमशः अपने तीनों गुणों तमस, रजस और सत्व अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों जगत् सहित अथवा सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की अपेक्षा से ब्रह्म, विष्णु और महेश रूप से विद्यमान है और प्रणव ही ईश्वर रूप है । अतः इससे स्पष्ट होता है ''ॐ'' ईश्वर का ज्ञान कराने वाला ''मंत्र'' है ।

तैत्तरीयोपनिषद के अनुसार–

ओमिति ब्रह्म। ओमितीद ॐ सर्वम् ।

ओमित्येतदनुकृतिहेस्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्राव यन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति । ओम शोमिति । शास्त्राणि शकंरसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगर' प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्म प्रसोति। ओमित्यग्निहोत्र–अनुजानाति। ओमिति ब्राहाणः प्रवदयन्नाह ब्रहोपाप्नबान्टीति । ब्रहोपोपाप्तोति ।

तैत्त्रीयोपनिषद– 8

अर्थात् – ''ओम यह ब्रह्म है। ओऽम ही यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला समस्त जगत है । ओम इस प्रकार का यह अक्षर ही निःसंदेह अनुमोदन है। ओम इस प्रकार स्वीकृति देकर समगायक विद्वान सामवेद मन्त्रों को गाते हैं । ओम–ओम कहकर ही शास्त्रों को अर्थात् मन्त्रों को पढ़ते हैं । ओम कहकर अध्वर्यु नामक ऋत्विक प्रतिगर मन्त्र का उच्चारण करता है । ओऽम कहकर ब्रह्म अनुमति देता है । ओऽम कहकर अग्निहोत्र की आज्ञा देता है । अध्ययन करने के लिये उद्यत ब्राह्मण पहले ओम का उच्चारण करके कहता है । मैं वेद को प्राप्त करूं और इस प्रकार वह ब्रह्म को अवश्य पा लेता है ।''

भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है कि –

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमांगतिम्।। गीता – 8/13

अर्थात् – कि जो पुरुष ''ॐ'' ऐसे इस एक अक्षर–रूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ उसके अर्थस्वरूप परमात्मा का चिन्तन करता हुआ शरीर को त्यागकर जाता है, वह पुरूष परमगति को प्राप्त होता है ।

अतः ओंकार को सारे मंत्रों का सेतु बतलाया गया है । ''मन्त्रणाम प्रणवः सेतु'' तथा मनोवांछित फल की प्राप्ति के लिये प्रत्येक मन्त्र को ओऽम के साथ उच्चारण किया जाता है ।

मन्त्र का ध्वनि से घनिष्ठ संबंध होता है । जब हम बोलते है तो हमारे मुंह से विभिन्न वर्णों की विभिन्न ध्वनियां निकलती है ऐसे ही कुछ विशिष्ट वर्णों को जो एक निश्चित क्रम में रहते हैं उच्चारण करना मंत्र कहलाता है। यह ध्वनि आध्यात्मिक शक्ति को जागृत करती है । संक्षेप में हम कह सकते हैं कि नाम ही मंत्र है । योग शिखोपनिषद के अनुसार –

हकारेण वर्हियात् सकारेणं विशेत् पुनः ।
हंस जग्रेति मंत्रोडयं सर्व जीवेश्चं जप्पयें ।।
गुरू वाक्यार सुषुम्णाडयां नियरी तो मवेज्जपः ।
सोऽहं सोऽहं मित्तियः भूलात मंत्रयोगः स उच्यते ।।

योग शिखोपनिषद– 1/130/131/13

अर्थात्– बाहर आती हुई प्रश्वास से हकार तथा भीतर जाती हुई वायु से सकार का उच्चारण होता रहता है । अज्ञात रूप से मानव हंसः हंसः जपता रहता है । किन्तु यदि गुरूकृपा हो तो उनसे दीक्षा मिल जाती है । जब उल्टा होने लगे अर्थात् हंसः का सोहम बन जाये। इससे द्वन्द मिट जाता है । साधक जिनेन्द्र हो जाता है। इसे मंत्रयोग, हंसयोग अथवा जपयोग भी कहते हैं ।

घेरण्ड संहिता के अनुसार –

षटशतानिदिवारात्रौ सहस्त्राणियेक विंशतिः।
अजपानाम गायत्री जीवोजपति सर्वदा।। घेरण्ड संहिता–5/83

अर्थात् – इसका जप प्रत्येक मनुष्य दिन रात में 21600 बार करता है । इसे अजपा गायत्री भी कहते हैं । किन्तु जब गुरू की कृपा से इसका विपरीत सोहम् जप होने लगता है तब उसे मंत्रयोग कहते हैं ।

मंत्रयोग से ही सुषुम्ना का दर्शन होता है । सुषुम्ना दर्शन से चित्त स्थिर हो जाता है जिससे जीवात्मा और परमात्मा का मिलन होता है इसी का नाम मंत्रयोग है। अथवा जब मंत्र द्वारा ईश्वर का स्मरण किया जाता है, तब उसे मंत्रयोग कहते हैं । यह मिलन तभी होता है जब लगातार मन्त्र जप करते करते पूर्ण रूप से चित्तवृत्ति का निरोध हो जाता है । यह मोक्ष प्रदान करने वाला है ।

मुण्डकोपनिषद में परमात्मा की प्राप्ति के साधन बताते हुये कहा है कि –

सत्धेन लम्यस्तपसा हृयेष आत्मा सम्यभ्ज्ञानेन ब्रह्मचयेर्ण नित्यम्।

अन्तः शरीरे ज्योर्तिमयो हि शुभ्रोयं पश्यन्ति यतमः क्षीणादोषाः।।

मुण्डकोपनिषद–3/1/5

अर्थात् – यह शरीर के भीतर ही हृदय में विराजमान प्रकाश रूप और परम विशुद्ध परमात्मा निस्संदेह सत्यभाषण से, तप से, ब्रह्मचर्यपूर्वक यथार्थ ज्ञान से ही सदा प्राप्त होने वाला है । जिसे सब प्रकार के दोषों से रहित हुये यत्नशील साधक ही देख पाते हैं ।

समस्त शरीर के भीतर हृदय में ईश्वर का निवास रहता है किन्तु उसे वे ही साधक प्राप्त कर सकते है, जो सदैव सत्य, भाषण, तपश्चर्या, संयम और स्वार्थ त्याग तथा ब्रह्मचर्य के पालन से उत्पन्न वास्तविक ज्ञान हो जाये । भावार्थ यह है कि ''ऊँ'' का प्रेमपूर्वक उच्चारण एवं उसके अर्थरूप परमात्मा का चिंतन ही उनकी प्राप्ति का साधन है । मुण्डकोपनिषद में कहा गया है कि –

प्रणवो धनुः शरोहयात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।

अप्रमहेन वेदव्यं शरवत–मयो भवेत।। मुण्डकोप निषद– 2/2/4

अर्थात्– प्रणव (ओऽम) धनुष है । आत्मा बाण है, ब्रह्म लक्ष्य कहा गया है, सावधानी से उसे बांधना चाहिए । बाण के सदृश्य उस लक्ष्य में तन्मय हो जाना चाहिये।

श्वेतारवरोपनिषद में जीवात्मा और परमात्मा को जानने का आशय बताते हुये कहा गया है कि –

वर्हन्यया योगितस्य मूर्तिन द्रश्यते नैवच लिंग नाशः।
स मूय एवेन्यनयो निगृहयस्तदमियं वे प्रणवेन देहें।।
स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चौत्तरारणिम।
ध्यानानिर्भयनाभ्यासाद देवं पश्येन्निगूढवत।।

श्वेताश्वरोपनिषद–1/13/14

अर्थात्– ''ॐ'' के जप द्वारा साधन करने पर इस शरीर मे ही ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है । अपने शरीर को नीचे की अरणि और प्रणव को हुई अग्नि की भांति परमदेव परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है।

जिस प्रकार अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये दो अरणियों का घर्षण किया जाता है उसी प्रकार अपने शरीर में परमपुरूष परमात्मा का प्राप्त करने के लिये शरीर को नीचे की अरणि बनाना चाहिये । तात्पर्य यह है कि जैसे नीचे की अरणि स्थिर रहती है ठीक उसी प्रकार शरीर को समभाव से स्थिर करके ऊपर की अरणि की भांति ''ऊंकार की वाणी द्वारा जप और मन से उसके अर्थ स्परूप परमात्मा का लगातार चिन्तन करने से हृदय में किये हुये ईश्वर का दर्शन हो जाता है ।

मंत्र जप तीन प्रकार का होता है :–

1. वाचिक जप
2. उपांशु जप
3. मानस जप

1. वाचिक जपः

जिस जप में नाम अथवा मंत्र का उच्चारण इतने स्तर से किया जाता है कि सभी सुन सकते है उसे वाचिक अथवा स्तरयुक्त जप कहते हैं ।

2. उपांशु जपः

जिस जप में मुख से शब्द नहीं होता केवल ओठों पर स्पन्दन मात्र होता है पर पास में रहने वाला भी व्यक्ति नहीं सुन सकता उसे उपांशु जप कहते हैं ।

3. मानस जपः

ऐसा जप जिसमें किसी शब्द का उच्चारण नहीं होता केवल मन ही मन में जप किया जाता है और उसके साथ उस मंत्र का अर्थ भी याद किया जाता है, उसे मानस जप कहते हैं यह सर्वश्रेष्ठ जप है ।

सम्पूर्ण जगत नाम रूपात्मक है । मन्त्रयोग नाम और रूप के द्वारा ही चित्त के निरोध का सिद्धांत प्रतिपादित करता है । नाम शब्द है और नामी अर्थ है, अतः नाम की साधना यदि मनोयोगपूर्वक की जाय तो नाभि का प्रत्यक्षीकरण संभव है । इसी आधार पर मंत्रयोग में नाम जप की साधना सर्वश्रेष्ठ मानी गई है । विधि विधान से जप का अनुष्ठान होने पर परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

मंत्र जप के साथ मन्त्रार्थ की भावना का भी घनिष्ठ संबंध रहता है । मंत्र साधना से साधक की भूत शुद्धि एंव चित्त शुद्धि होती है । अज्ञान का आवरण मिट जाता है और साधक का स्वभाव जागृत हो जाता है ।

भारतीय परम्परा के अनुसार मंत्र गुरू द्वारा ही प्रदत्त होना चाहिए, तभी उसमें शक्ति आती है । इसकी साधन प्रणाली बताते हुये कहा गया है कि पहले गुरू से मंत्र या नाम का श्रवण करके उसका सही ढंग से अभ्यास करें और इस मंत्र को हृदय में धारण करें । अब यदि मंत्र का जप किसी नाम और माला को लेकर करना है तो स्थिर आसन में बैठकर मन को चारों ओर से हटाकर एकाग्र करके इष्टदेव या जिसका जप करना है उसके स्वरूप का अथवा गुणों का ध्यान लगातार करते हुये जप करते रहते हैं । जब इतनी एकाग्रता आ जाती है कि माला का फेरना भी बंद हो जाये परन्तु ध्यान बना रहे तब वह मंत्र या जप सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो जाता है अतः जप और ध्यान का एक साथ होना और जप के द्वारा ध्यान स्थिर हो जाना आत्म साक्षात्कार का सबसे बड़ा साधन है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मंत्र योग साधना का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक सिद्धि की प्राप्ति ही है । यह मंत्र साधना सभी के लिये सुलभ साधना है । किंतु मानव लोक कल्याण की भावना से इसकी तपश्चर्या करे तो श्रेयकर है; विभिन्न प्रकार के मंत्रों से भिन्न–भिन्न प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती है, जो मानव को अपने यथार्थ लक्ष्य से अलग करके सांसारिक सुखों की ओर मोड़कर जन्म–मृत्यु के बंधन में फसांये रखती है या मानव इसका उपयोग जनहित के विनाश के लिये करता रहता है । अतः मानव व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि से दूर रहकर जन कल्याण की भावना से उसकी सिद्धि प्राप्त करें या उनका लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति ही हो, तभी मंत्रयोग का यथार्थ लक्ष्य सिद्ध होता है ।

कुंडलिनी योग

कैवल्य और विवेक ख्याति के अलावा योग की यह शायद सबसे महत्वपूर्ण संकल्पना कही जा सकती है । परन्तु इतनी अधिक महत्वपूर्ण होते हुये भी यह संकल्पना अत्यंत अस्पष्ट और रहस्यमयी भी रही है । यह बड़े आश्चर्य की बात है। ग्रंथों में उसके जो वर्णन मिलते है, उससे तो यह लगता है कि शरीर का कोई अंग या अवयव हो परन्तु प्रत्यक्ष में ऐसा कोई अंग दिखाई नहीं देता है । जिसे हम यही कुंडलिनी है ऐसा कह सके । इस पर यह कहा जा सकता है कि वह तो शक्ति स्वरूप है, वस्तुस्वरूप नहीं है । इसको आधारशक्ति, परमशक्ति वाचाशक्ति आदि शब्दों से कहते हैं । कुण्डलिनी के संबंध में एक विशेष बात यह है कि योग के सर्वप्रसिद्ध और प्रमुख दो ग्रंथों में अर्थात् भगवदगीता में तथा पतंजलि के योगसूत्र में उसके संबंध में कोई भी उल्लेख नहीं मिलते । इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शायद षटचक्र, इड़ा, पिगंला एवं सुषम्ना ये तीन नाड़ियाँ तथा कुंडलिनी शक्ति ये सभी संकल्पनाएँ मूलतः योग की न होकर तंत्र शास्त्र की थी । तंत्र से ही ये संकल्पनायें हठयोग में आयी होगी । हठयोग में इनका महत्व सर्वोपरि रहा ।

कुण्डलिनी का अर्थ है–कुठ़री । यह मानव शरीर में मेरूदंड के नीचे ''मूलाधार चक्र'' में साढ़े तीन कुण्डल लपेटे हुये सुप्त अवस्था में रहती है । इसी से इसे कुंडलिनी कहते है । हठयोग प्रदीपिका में कुण्डलिनी को विभिन्न नामों से जाना जाता है ।

कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुजंगी, शक्तिरीश्वरी ।
कुण्डल्यरूधंती चते शब्दा पर्याय वाचकाः।।हठयोग प्रदीपिका–2/104

अर्थात्– कुटलांगी, कुण्डलिनी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरूधन्ती विभिन्न नाम है।

कुण्डलिनी योग में शरीर के भीतर की नाड़ियो और शारीरिक शक्तियों के ऊपर अधिकार प्राप्त करके साधक अपने आपको ऐसा बना लेता है कि उसके मन पर अच्छे बुरे काम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह अपने मन पर पूर्ण नियंत्रण कर लेता है ।

कुण्डलिनी का स्थान एवं जागरण

कुण्डलिनी यद्यपि केवल शक्ति स्वरूप भी हो तो उसके स्थान का वर्णन हठयोग के ग्रंथों में मिलता है । हम सब लोगों में यह शक्ति सोई हुई या सुप्त अवस्था में रहती है । मूलाधार चक्र में कंद, योनि या त्रिकोण नाम का एक अंग होता है वही कुंडलिनी का स्थान है । इसका वर्णन शिवसंहिता में इस प्रकार किया गया है ।

गुदाद् द्वयंगुलतश्र्चोहर्व मेट्रैकागुलतस्त्वधः ।
एवं चास्ति समं कदं समता चतुरंगुल्य ।। शिव संहिता– 5/74

अर्थात् – गुदा से दो अगुंल ऊपर और जननेंद्रिय से एक अंगुल नीचे चार अंगुल लम्बा चौड़ा कंद विद्यमान होता है। उसी को योनि शब्द से कहते है उसमें कुण्डलिनी साढ़े तीन फेर लगाकर सुषुप्ना नाड़ी के नीचे के छोर को अपने मुहँ में पकड़कर सुप्त रहती है।

दर्शनोपनिषद् में कंद को त्रिकोण शब्द से कहा है–

त्रिकोण मनुजानां तु सत्यमुक्तं हि सांकृते ।

गुरान्तुदयंगुलादूर्ध्व मेंद्रान्तु द्वयंगुलादधः।। दर्शनोपनिषद 4/2

अर्थात्– शरीर में मेरूदंड के नीचे कमर के हिस्से में जो एक त्रिकोणाकृति हडड़ी है जिसकी अंग्रेजी में से क्रम कहते हैं, वही हठयोग के ग्रंथों में वर्णित कंद है। वह ऊपर से चौड़ा तथा नीचे से सकरा होता है। उसका नीचे का छोर मूलाधार चक्र में होता है इसे ही त्रिकोण कहा गया है।

षटचक्र निरूपण में कहा गया है कि–

वज्राख्या वक्त्रदेशे विलसति सततं कणिका मध्यसंस्था

कोणंतत त्रैपुराख्यं तडि दिव विलसल्कोमंल कामरूपम।

कंदर्पो नाम वायु न्रिवसति सततं तस्य मध्ये समन्ताज्जीवेशो।

बन्धुजीव प्रकरमभिहसन कोटि सूर्य प्रकाशः।। षटचक्र निरूपणम–8

अर्थ–वज्रा नाड़ी के आरंभ में मूलाधार चक्र में त्रिकोण होता है। उसमें कंदर्प नाम का वायु होता है । इस त्रिकोण में स्वयं भू लिंग होता है, उसका वर्णन इस तरह है– त्रिकोण में तप्त सुवर्ण के समान कांतिमान श्यामवर्ण पीछे की ओर मुख किया हुआ स्वयं भूलिंग है।

सेक्रम के नीचे जो रीढ़ की अंतिम तीन हड्डियाँ एक दूसरे से जुड़ी हुई होती है। जिनको अंग्रेजी में 'काक्सीकस' कहते हैं शायद भूलिंग का तात्पर्य उसी काक्सीकस से हो ऐसा कह सकते हैं।

मूलाधार चक्र में कंद योनि या त्रिकोण नाम का एक अंग होता है वही कुण्डलिनी का स्थान है। योगियों के अनुसार यह शक्ति गुदास्थान में आधे अंगूल ऊपर मूलाधार स्थान को योनि मंडल या सिवनी भी कहा जाता है उसमें कुंडलिनी (3½) साढ़े तीन फेरे लगाकर सुषुम्ना नाड़ी के नीचे के छोर को अपने मुहँ में पकड़कर सुप्त

रहती है कुंडलिनी की सुप्त अवस्था के कारण मनुष्य के चित्त में अज्ञान व्याप्त है। कुंडलिनी की शक्ति को जगाने से वह अपना कुटिल रूप त्याग कर सरल हो जाती है और सुषुम्ना के मध्य मार्ग से ऊपर की ओर अग्रसर होती है। उसके मार्ग में विद्यमान चक्रों को भेद करते हुये जब वह सहस्त्राहार चक्र में स्थित परम शिव के साथ एक रूप होती है तब साधक को समाधि की अवस्था में परम ज्ञान होता है। इसका समग्र वर्णन योग के अनेक ग्रंथों में उपलब्ध है। केवल कुम्भक अर्थात् इच्छा के अनुसार कितनी भी देर तक श्वसन क्रिया को रोकने की शक्ति होना यह कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत होने का एक लक्षण है। कुण्डलिनी के जागरण के लिये हठयोग में जो विशेष उपाय बताये गये है उनमें सिद्धासन, पश्चिमोत्तान आसन, मत्स्येन्द्र आसन, महामुद्रा तथा मूलबंध, जालंधर बंध एवं उड्डियान बंध इन तीनों बंधों के सहित भस्त्रिका प्राणायाम प्रमुख है इन अभ्यासों में रीढ़ एवं गर्दन को आगे झुकाने से सुषुम्ना नाड़ी पर तनाव लाना, उदरगुहा में तनाव और दबाव निर्माण करना तथा मूलाधार अर्थात सीवनी पर जहां कुडलिनी का स्थान है दबाव निर्माण करना यह कार्य होते है। इन सबसे कुंडलिनी का प्रत्यक्ष जागरण किस प्रकार होता है उस जागरण का स्वरूप क्या है? तथा उसके क्या परिणाम होते हैं? इन बातों का कोई वैज्ञानिक स्पष्टीकरण अभी उपलब्ध नहीं हुआ है फिर भी कुंडलिनी जाग्रत होने के बाद साधक को अपने आप सहज अवस्था प्राप्त होती है। प्राण, अग्नि और चित्त इन सभी के साथ कुंडलिनी का ब्रहारध्रं में लीन हो जाना योग की उत्तम और चरम स्थिति है। उस स्थिति में योगी की दृष्टि लौकिक पदार्थो से हटकर शून्य हो जाती है।

मानव शरीर में मेरूदंड के भीतर एक नाड़ी रहती है। जिसे सुषुम्ना कहते हैं। यह नाड़ी मूलाधार चक्र से मस्तिष्क तक जाती है इसके दांये–बांये दो नाड़ियाँ होती है जिनको क्रमशः इड़ा और पिंगला कहते है। इड़ा को 'चन्द्र' और पिगंला को 'सूर्य' नाड़ी भी कहते है, इन्हें 'गंगा–यमुना' भी कहते हैं।

मेरूदंड के सबसे नीचे भाग में एक त्रिकोण के आकार का अंग होता है उसके तीनों कोणों से ये तीनों नाड़ियाँ निकलती है अतः इस त्रिकोण को मुक्त त्रिकोणी भी कहते हैं। ये तीनों नाड़ियाँ आज्ञा चक्र पर जाकर मिलती है। इसे मुक्त त्रिवेणी कहते हैं। इन तीनों का संबंध हृदय से है । हृदय से एक सौ एक नाड़ियाँ निकलती है। उनमें ये तीनों नाड़ियाँ भी शामिल हैं।

षठचक्र

कुण्डलिनी के बारे में अध्ययन करने के लिये चक्रों का ज्ञान बहुत आवश्यक है या यूँ कहें कि चक्रों के ज्ञान के बिना कुंडलिनी का ज्ञान अधूरा है । कुंडलिनी का मार्ग ये चक्र ही हैं जिनको भेदते हुए वह परम तत्व बह्मरन्ध्र तक पहुँचकर अपने वास्तविक स्वरूप में लीन हो जाती है । चक्र शब्द का अर्थ है गोला या गोल घूमने वाली चीज जैसे–गाड़ी का पहिया, विष्णु का सुदर्शन चक्र इत्यादि। हठयोग में चक्र को इसी अर्थ में लिया गया है। भस्त्रिका प्रभृति कुम्भकों का त्रिबंधों के साथ पर्याप्त अभ्यास होने के बाद सीवनी स्थान से एक विशेष प्रकार की संवेदना का निर्माण होकर सुषुम्ना मार्ग से ऊपर की ओर जब प्रवाहित होनी शुरू होती है जिसे कुंडलिनी जागरण कहते हैं, तब वह संवेदना मार्ग में जगह–जगह ग्रन्थियों या बाधाओं के होने के कारण सीधी नहीं जा पाती । गुदा स्थान से लेकर मस्तिष्क तक इस प्रकार के कुल 7 स्थान है। जिनसे होकर उस संवेदना को गुंजरना पड़ता है। यह उत्थित संवेदना इन विभिन्न स्थानों की बाधाओं से जब टकराती है तब यह वहाँ पर गोलाकार रूप में घूमने तथा चक्कर लगाने लगती है। इसी कारण इसको चक्र कहा जाता है।

(1) मूलाधार चक्रः

इसका स्थान गुदा और जननेंद्रिय के बीच में होता है । इसके रक्तवर्ण चार दल होते हैं । उन पर व, श, ष, स वर्ण अंकित हैं । प्रत्येक वर्ण के ऊपर बिन्दु है। चक्र के मध्य में आठ शूलों से घिरा हुआ पीले रंग का धरामंडल है । उसमें ''लं''

बीज होता है, जिसके अंतर्गत ऐरावत हाथी पर आरूढ़ चार हाथों से युक्त, एक हाथ में बज्र लिये हुए इन्द्र हैं । इस चक्र की देवता डाकिनी है । उसके चार हाथ हैं और आँखें रक्त वर्ण हैं ।

(2) स्वाधिष्ठान चक्रः

इसके वर्णन में ''सुषुम्ना मध्य घटितम'' इस शब्द से यह चक्र तथा अन्य चक्र तथा अन्य चक्र भी सुषुम्ना नाड़ी के भीतर होते है। यह बात स्पष्ट होती है । यह बात षटचक्र निरूपण के आरंभ में द्वितीय श्लोक में ''सकलसरसिजान'' मेरूमध्यान्तर स्थान'' इन शब्दों से भी कही है । स्वाधिष्ठान चक्र जननेद्रिय के मूल में स्थित है । इसमें कुंकुम के समान लाल रंग के छह दल है। । जिन पर बिंदु सहित ब, भ, म, य, र, ल ये छः वर्ण अंकित हैं । इसमें जल तत्व का अष्टकोण युक्त सफेद रंग का मंडल होता है उसमें अर्ध चंद्रमा तथा मकर पर अधीष्ठित ''वं'' बीज होता है । बीज के अंतर्गत गरूड़ पर आरूढ़ विष्णु है । इस चक्र की देवी राकिनी है । वह श्याम वर्ण है । उसकी तीन आंखे हैं ।

(3) मणिपुर या नाभिपद्यः

इसको मणिपुर चक्र भी कहते हैं । इसका रंग काली घटा के समान होता है इसके दस दल होते हैं । उन पर बिन्दु से अंकित ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, नीले रंग के वर्ण होते हैं । इसमें अग्नि तत्व का त्रिकोणाकृति मंडल होता है। उसका रक्तवर्ण ''रं'' बीज भेड़ पर आरूढ़ है । उस बीज में रूद्र देवता उपस्थित है। इस चक्र की शक्ति को लाकिनी कहते हैं वह नीले वर्ण की होती है ।

(4) अनाहत चक्रः

इसका स्थान हृदय के पास है । इसका रंग बधूंक पुष्प के समान होता है। इसके बारह दल होते हैं । उनके रक्तवर्ण बिन्दु सहित क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ऐसे बारह वर्ण अंकित होते हैं इस चक्र के अंतर्गत धूम्र वर्ण का वायु

मंडल है । उसके ऊपर सूर्य मंडल होता है । उसके भीतर त्रिकोण में कृष्ण मृग पर आरूढ़ ''यं'' बीज में त्रिनेत्र ईश्वर विद्यमान है । इस चक्र की शक्ति काकिनी देवी है ।

(5) विशुद्धि चक्रः

यह कंठ में स्थित, सोलह दलों वाला चक्र धूमिल वर्ण का है । इसमें ''अ'' से ''अः'' तक सोलह स्वर होते हैं । उनके ऊपर रक्तवर्ण बिन्दु विराजमान है । इसमें सफेद रंग का गोलाकृति आकाश तत्व का नभो मंडल है । उसके भीतर चंद्र मंडल है, जिसमें हाथी पर आरूढ़ शुभ्र ''हं'' बीज है । उसके भीतर सिंहासन पर स्थित सदाशिव विद्यमान है । इसकी शक्ति शुभ्रवर्ण साकिनी देवी है।

(6) आज्ञा चक्रः

इसका स्थान दो भौहों के बीच में है । इसके दो शुभ्र दल है उन पर ''हं'' और ''क्ष'' वर्ण अंकित हैं । इसकी शक्ति हाकिनी है । यह मन का स्थान है।

(7) सहस्त्रार चक्रः

इसका स्थान सुषुम्ना नाड़ी के ऊपर है । इसके शुभ्रवर्ण के सहस्त्र दल है। उन पर वर्णमाला के सभी पचास वर्ण, प्रत्येक वर्ण बीस–बीस बार अंकित है । इसमें सूर्य मंडल तथा चंद्र मंडल के ऊपर परम शिव का स्थान है। सबसे ऊपर ब्रह्मरंध्र है जो ब्रह्म प्राप्ति का द्वार है ।

इस प्रकार इन चक्रों का वर्णन देखकर इसका प्रतीकात्मक स्परूप स्पष्ट हो जाता है । आधुनिक वैज्ञानिक जानकारी के साथ तालमेल रखने वाला तथा इनके स्पष्टीकरण देने का प्रयास अनेक विद्वानों ने किया है। कुछ लोगों के अनुसार रक्तवाहिनियों के अंतर्गत जो ''फ्लेक्सस'' होते हैं वे ही योग के चक्र हो सकते हैं। कैवल्यधाम से प्रकाशित ''योगमीमांसा'' पत्रिका के जुलाई 1966 के अंक में डा.म.वि. आपटे महोदय ने चक्रों के संबंध में इस प्रकार स्पष्टीकरण दिया है–

मूलाधार चक्र के चार दल हैं, क्योंकि गुदा एवं जननेद्रिय के बीच की सीवनी, जिसको अंग्रेजी में पेरिनीयम कहते हैं उसके चार कोण होते है । यौन क्रिया के प्रमुख अंग छः है जैसे– दो हाथ, दो आंखें, मुख तथा जननेद्रिय । इसीलिये जननेंद्रिय के मूल में स्थित स्वाधिष्ठान चक्र के छः दल है । नाभिचक्र के दस दल है, क्योंकि पाचन के अंग दस है, जैसे अमाशय, पक्वाशय, छोटी आंत के दो हिस्से, बड़ी आंत के तीन हिस्से, पित्ताशय, यकृत तथा अग्नाशय । हृदय की मुख्य रक्तवाहिनियां बारह है । कंठ चक्र में सोलह दल इसलिये है क्योंकि वर्णमाला में अ से अः तक स्वरों की संख्या सोलह है । आज्ञाचक्र के दल दो है क्योंकि आंखे, जिनसे आज्ञा देते हैं वे दो ही हैं।

आध्यात्मिक उन्नति के लिये सुषुम्ना नाड़ी का जाग्रत करना आवश्यक है अतः इसके लिये नियमित, तपोमय और सात्विक जीवन बनाना अत्यंत आवश्यक है। यम, नियमों का अभ्यास करना भी आवश्यक है । जप, ध्यान, प्राणायाम, आदि से कुण्डलिनी जाग्रत होती है ।

कुण्डलिनी योग को षटचक्र भेदन भी कहते हैं । हठयोग के अंतर्गत इसके जागृत करने के अनेक साधन वर्णित है । उनमें से एक का वर्णन यहां पर किया जाता है । पदमासन, वज्रासन, सिद्धासन, स्वस्तिकासन आदि किसी भी आसन से मेरूदंड को सीधा किये हुये, सिर, गदर्न और पीठ समसूत्र में करके इसके बाद मूलबंध लगाइये । इसमें गुदा और लिंग को ऊपर खीचा जाता है । इसके साथ ही पेट के भीतर ले जाकर यहां तक कि वह रीढ़ की हड्डी से लग जावे अंदर को दबाया जाता है । इसे उड्डियान बंध कहते हैं। अब श्वास भीतर खींचकर पूरक करते हैं और सीने को श्वास द्वारा वायु से भर कर कुम्भक करते हैं । सिर को नीचे झुकाकर ठोड़ी को गले के गडढ़े (कंठकूप) में लगा देते हैं । इसको जालंधर बंध कहते हैं । इस प्रकार मूलबंध, जालंधर बंध, उड्डियान बंध और कुम्भक की चारों क्रियाओं को एक

साथ करने से थोड़े दिनों के अभ्यास से कुण्डलिनी जागृत हो जाती है और सुषुम्ना नाड़ी खुल जाती है ।

जिस जिस चक्र पर कुंडलिनी शक्ति पहुंचती जाती है, वह अर्धामुख से उर्ध्वमुख होकर विकसित होता जाता है । जब यह आज्ञा चक्र पर पहुंच जाती है तब सम्प्रज्ञात और जब सहस्त्रार तक पहुंच जाती है, तब सारी वृत्तियों का निरोध होकर असम्प्रज्ञात समाधि की वास्तविक रूप में योग्यता प्राप्त होती है । इस अवस्था में मनुष्य को सारे संसार का ज्ञान बहुत शीघ्र प्राप्त हो जाता है । जिस प्रकार कुंजी के द्वारा हठपूर्वक किवाड़ खोले जाते हैं, उसी प्रकार योगी कुंडलिनी के द्वारा मोक्ष के द्वार खोलता है ।

चित्तवृत्ति का निर्विकार हो जाना ही मोक्ष है । शरीर में आत्मा भाव का विकार है और वही विकार जीव के लिये बन्धन स्वरूप है, इसीलिये साधक आत्मा और परमात्मा में अभेद संबंध समझने लगता है । अतः स्पष्ट होता है कि प्राण और मन के लय होने पर ''अहं ब्रह्मस्मि'' मैं ब्रह्म हूँ रूप जो आलम्ब रहित श्रेष्ठ वृत्ति है वह परमानन्द प्राप्त कराने वाली और सुख दुःख से निवृत्ति कराने वाली जीवन्मुक्ति रूपी मोक्ष है ।

हठयोग

हठयोग के एक प्रमुख आचार्य योगी स्वात्माराम ने अपने हठयोग प्रदीपिका के आरंभ में हठयोग को एक सोपान या सीढ़ी कहा है जो राजयोग के अंतिम लक्ष्य तक साधक को आसानी से पहुँचा सकती है।

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै ।
येनोषदिष्टा हठयोग विद्या ।।
विभ्राजते प्रोन्नत राजयोग ।
मारोढुमिच्छोरधिरोहिणी व ।। हठप्रदीपिका – 1.1

'योग शिखोपनिषद' में हठयोग के संबंध कहा गया है कि –

सूर्याचन्द्रम सौरेक्यं हठ इव्यात्रिधीयते।योगशिखोपनिषद – 1/133

अर्थात्: हठयोग का अर्थ है ''ह'' और ''ठ'' का योग । ''ह'' सूर्य को कहते हैं और ''ठ'' चंद्र को । मनुष्य के शरीर में नाभि के पास सूर्य तथा तालु के मूल में चंद्रमा होता है । उन दोनों की एकता करने वाले योग को हठयोग कहते हैं । ऐसा योग शिखोपनिषद में कहा गया है ।

हठप्रदीपिका के टीकाकार ब्रह्मनन्द ने कहा है –

एतेन हठशब्द वाच्योः सूर्यचन्द्राख्ययोः प्राणापानयोरैक्य–
लक्षणः प्राणायामों हठयोग इति हठयोगस्य लक्षणं सिद्धम् ।।

ज्योत्स्नाटीका–1:1

अर्थात्– सूर्य और चंद्र को क्रमशः प्राण और अपान के रूप में लेने की प्रथा योग में है अर्थात् प्राण और अपान के ऐक्य रूप प्राणायाम का ही तात्पर्य हठयोग शब्द से लेना चाहिये ऐसा ज्योत्सना टीकाकार ने कहा है ।

सामान्य अर्थ में हठ का अर्थ लोग जिद को मानते हैं परन्तु यहां पर हठयोग पूरा एक योग सम्प्रदाय के अंतर्गत की जाने वाली साधना है । जिसका उद्देश्य राजयोग की प्राप्ति करना है । ''ह'' और ''ठ'' इन दो वर्णों के जुड़ने से हठ शब्द बना है । संस्कृत में इन दो वर्णों के जुड़ने से (ह+ठ) के लिये कई नाम दिये गये हैं ।

जैसेः–

ह = सूर्य, ग्रीष्म, पिंगला, पित्त, प्राण, दिन, शिव, ब्रह्म राजस्य आदि ।

ठ = चंद्र, शीत, इड़ा, कफ, अपान, रात्रि, शक्ति, जीव, तमस आदि।

योग शब्द सामान्यतः इनके जुड़ने या एकीकरण के अर्थ में यहां पर प्रयुक्त किया गया है । अतः हठयोग उस प्रक्रिया का नाम है जिसमें अयुक्त ह और ठ का एकीकरण संभव हो सके ।

सिद्धसिद्धांत पद्धति के अनुसार–

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चद्रं उच्यते ।
सूर्याचन्द्रं भसोर्योगाद्धठयोगो निमद्यते।।सिद्धसिद्धांत पद्धति–1/69

अर्थात् – सूर्य (पिगंला) नाड़ी को हकार और चंद्र (इडा) नाड़ी का ठकार कहते है, इन सूर्य और चंद्र नाडियों में बहते हुये दो प्राण प्रवाहों के मिलने को हठयोग कहते है अतः ''ह'' और ''ठ'' अर्थात् पिंगला–इड़ा के योग को हठयोग कहते है।

प्राण–अपान, नाद बिन्दु जीवात्मा और परमात्मा के मेल से स्थूल शरीर बनता है उसे घट कहते है।

घेरण्ड संहिता के अनुसार–

आम कुम्भमिवाभ्यस्यों जीर्यमाणः सदाघटः ।
योगनालेन संवहय घटशुद्धिं समाचरेत।। घेरण्ड संहिता ।। 1/8

अर्थात्–मिट्टी के कच्चे घड़े को जलमध्य स्थित की तरह शरीर रूपी यह घट सदा जीर्ण रहा करता है। इसीलिये योग रूपी अनल के द्वारा पक्का करके इस घट की शुद्धि करनी चाहिये। शरीर की तुलना मिट्टी के कच्चे घड़े से की गई है जैसे जल भरने से कच्चा घड़ा गलकर नष्ट हो जाता है वैसे ही योग अग्नि के बिना अपरिपक्व शरीर भी व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। इसलिये जीर्ण भाव युक्त स्थूल शरीर को हठयोग के द्वारा दृढ़ करके सूक्ष्म शरीर को भी योगानुकूल किया जाता है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का ही परिणाम मात्र है। आगे कहा गया है कि–

अभ्यासात कादिवर्णानां यथाशास्त्राणि ओधयेत ।
तथा योगं सभा साथ तत्वज्ञानं च लम्यते।। घेरण्ड संहिता – 1/5

अर्थात् – जैसे कवर्ग आदि वर्णो का क्रम पूर्वक अभ्यास करने से सभी शास्त्रों का बोध होता है वैसे ही योग का अभ्यास करने से तत्व ज्ञान की प्राप्ति होती है।

अतः सूक्ष्म शरीर पर अधिपत्य स्थापित करने से चित्त वृत्ति का निरोध किया जा सकता है और उन साधनों को हठयोग कहते है।

हठयोग के अंगों के संबंध में मतभिन्न्ता है। हठयोग केवल चार अंगों को (आसन, मुद्रा, प्राणायाम, नादानुसंधान) मानता है जबकि घेरण्ड संहिता जो कि हठयोग का दूसरा ग्रंथ है वह इसमें सप्त अंग (षटकर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणयाम, ध्यान और समाधि) को मानता है। इसीलिये यहाँ पर दोनों का वर्णन करना आवश्यक हो जाता है। सर्वप्रथम घेरण्ड संहिता के अनुसार सप्त अंगों का वर्णन इस प्रकार है–

इस ग्रंथ में वर्णित विषय गुरू शिष्य संवाद के रूप में है। गुरू घेरण्ड से शिष्य चंद्र कापालिक विविध योग सबंधी प्रश्न पूछते है जिसका विधिवत उत्तर गुरू घेरण्ड देते है। इस संपूर्ण पुस्तक के सातों उपदेशों में कुल 102 अभ्यासों का वर्णन किया गया जिनमें प्रथम उपदेश में 21 क्रियायें, द्वितीय उपदेश में 32 आसन तृतीय उपदेश में 25 मुदायें, चतुर्थ उपदेश में 5 प्रत्याहार, पचंम उपदेश में 10 प्राणायाम, षटउपदेश में 3 ध्यान तथा सप्तम उपदेश में 6 समाधि का वर्णन किया है।

इस प्रकार संपूर्ण योग को घेरण्ड ने मोटे तौर पर सात विभाग कर पुस्तक के सातों उपदेशों में क्रमशः एक–एक विभाग का विस्तार से वर्णन किया है। इसके प्रथम उपदेश के प्रारंभ में ही इसे घटस्थ योग कहा गया है, कि जिस प्रकार कच्चे घडे में पानी भरने से घंड़ा गल जाता है, जिस प्रकार घड़े को अग्नि में पकाना आवश्यक होती है उसी प्रकार शरीर रूपी घट को योग रूपी अग्नि में पकाकर शुद्ध या परिपक्व कर लेना चाहिये। क्योंकि आगे की साधना में यह शरीर ही मुख्य साधन रहता है और योग के चरम लक्ष्य समाधि और तत्प्रयुक्त मुक्ति प्राप्ति का मार्ग घेरण्ड संहिता में क्रम से बताया गया है।

प्रथम उपदेशः

हठयोग के प्रमुख ग्रंथ घेरण्ड सहिंता में प्रथम उपदेश के अंतर्गत सर्वप्रथम शारीरिक शुद्धि पर सर्वाधिक बल दिया गया है। इसमें कहा गया है कि जिन व्यक्तियों के शरीर में दोषों में अधिकता रहती है उन्हें शुद्धि क्रिया करनी चाहिए । घेरण्ड ने जिन शुद्धि क्रियाओं का वर्णन प्रथम उपदेश के अंतर्गत किया है। मोटे तौर पर उसके 6 प्रकार बताये गये हैं–

1. धौति
2. बस्न्ति
3. नेति
4. त्राटक
5. कपालभांति
6. नौलि ।

घेरण्ड संहिता में धौति के 13 प्रकार बताये गये है जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं–

(A) (1) अंत धौति
(2) दंत धौति
(3) हृदय धौति
(4) मूल शोधन

(1) अंत धौति के प्रकार

1. वात्सा 2. वारिसार 3. वहनिसार 4. बहिष्कृत

(2) दंत धौति के प्रकार

1. दंत मूल 2. जिव्हा मूल 3. दोकर्ण रंध्र 4. कपालरन्ध्र

(3) हृदय धौति के प्रकार

1. दंड 2. वमन 3. बांस का 4. मूलशोधन

(B) बस्ति के अंतर्गत प्रकार

1. जल बस्ति 2. शुष्क बस्ति

(C) नौलि के अंतर्गत प्रकार

नौलि एक प्रकार की कही गई है।

(D) नेती के अंतर्गत प्रकार

नेति एक प्रकार की कही गई है।

(E) त्राटक के अंतर्गत प्रकार

त्राटक भी एक प्रकार का कहा गया है।

(F) कपाल भांति के अंतर्गत प्रकार

ये तीन प्रकार की बतायी गई है।

1. व्युक्क्रम कपालभाति
2. वातकर्म कपालभाति
3. शीतकर्म कपालभाति

इस प्रकार कुल मिलाकर 21 क्रियाओं का वर्णन घेरण्ड संहिता के प्रथम उपदेश में सविधि वर्णित किया गया है।

2. द्वितीय उपदेशः

आसन घेरण्ड के अनुसार अभ्यास करने योग्य मुख्य आसनों की संख्या 32 बतायी गई है जो निम्नलिखित है–

(1) सिद्धासन (2) पदमासन (3) भद्रासन (4) मुक्तासन (5) स्वास्तिक आसन (6) सिंहासन (7) स्वास्तिक आसन (8) गोमुख आसन (9) वीरासन (10) धनुरआसन (11) शवासन (12) गुप्त आसन (13) मत्स्य आसन (14) मत्स्येन्द्र आसन (15) गोरक्ष आसन (16) पश्चिमोत्तान आसन (17) उत्कट आसन (18) संकट आसन (19) मयूर आसन (20) कुक्कुट आसन (21) कूर्मासन (22) उत्तानकूर्मासान (23) उत्तानमण्डूकआसन

(24) हलासन (25) मण्डूक आसन (26) गरूड़ आसन (27) वृक्षासन (28) शलभआसन (29) मकर आसन (30) उष्ट्रासन (31) भुजगांसन (32) योगासन।

उक्त आसनों में से 15 तो वही हैं। जो हठप्रदीपिका में वर्णित हैं। इनके अतिरिक्त 17 और आसन यहां पर बताये गये है, इस प्रकार घेरण्ड संहिता के अनुसार कुल 32 आसनों का उपयोग बताया गया है जो हर दृष्टि से उपयुक्त है। योग की विभिन्न संस्थाओं के पाठ्यक्रमों में घेरण्ड के ही अधिकांश आसन सम्मिलित किये जाते है इन शारीरिक मानसिक हठयौगिक आसनों का उनकी प्रक्रिया और लाभ को ध्यान में रखते हुये चार या छः भागों में समेटा जा सकता है। ये सभी आसन मेरूदंड को लचीला बनाने, मांसपेशियों को लचीला व सरल व सख्त बनाने के लिये किये जाते है सभी आसन मेरूदंड में चार प्रकार के मोड़ पैदा करते है। आसनों के नियमित अभ्यास से शरीर में लचीलापन, नई स्फूर्ति, रक्तसंचरण, उत्तमस्वास्थ्य का निर्माण होता है । साथ ही घंटों तक बैठने के आसनों में रहने की योग्यता का निर्माण होता है । सिद्ध आसनों या सिद्ध आदि आसनों में सही व दीर्घकालीन बैठने के लिये तो सतत् अभ्यासी ही रहना चाहिये । इसीलिये इन आसनों के लाभ बढ़ा–चढ़ा कर कहे गये हैं ।

3. तृतीय उपदेशः

घेरण्ड संहिता में तृतीय उपदेश में मुद्राओं का वर्णन किया है और उनके 25 प्रकारों का उल्लेख किया है वे निम्नलिखित हैं–

1.	महा मुद्रा	2.	नभो मुद्रा	3.	उड्डियान बंध
4.	मूल बंध	5.	जालंधर बंध	6.	महा बंध
7.	महा बंध	8.	खेचरी	9.	विपरीतकरणी
10.	योनि मुद्रा	11.	बज्ररौली	12.	शक्तिचालनी
13.	तड़ागी	14.	माण्डुकी	15.	शाम्भवी –8

इसकी पांच धारणाऐं हैं – 1. अधोधारणा 2. आमभसी धारणा 3. वैश्नवी धारणा 4. वायवी धारणा 5. नभो धारणा ।

16. अश्विनी 17. पाश्विनी 18. काकी 19. मांतगी 20. भुजंगी आदि ।

इन मुद्राओं के फलस्वरूप जो इनका मानसिक तथा आध्यात्मिक अनुभव होता है । उसकी चर्चा घेरण्ड ने विस्तार से आदि ग्रंथों में वर्णित प्रसिद्ध दस मुद्राओं के अतिरिक्त और 15 मुद्राओं का वर्णन कर इनकी संख्या 25 कर दी है तथा शारीरिक स्तर पर उनके लाभ आदि का विस्तार से विवेचन किया है ।

कुण्डलिनी

घेरण्ड के अनुसार कुंडलिनी का स्थान मूलाधार में है । वही पर यह शक्ति 3½ फेरे लगाकर सर्पाकार में सोई रहती है । यह प्रत्येक मनुष्य में हुआ करती है। जब तक यह मनुष्य के शरीर में उक्त स्थान में सोई हुई स्थिति में पड़ी रहती है तब तक मनुष्य पशुओं के समान आहार, निद्रा, भय और मैथुन के वशीभूत हो समस्त सामान्य सांसारिक जीव के रूप में एक जीव से दूसरे जीव के रूप में आना जाना करता रहता है । ये चार गुण सभी में पाये जाते हैं । ऐसी स्थिति में चाहे करोड़ों प्रकार का अभ्यास करे ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी । जब मुद्रा आदि के अभ्यास से बंध के अभ्यास वहां से वह कुण्डलिनी जगती है तब वह सुषुम्ना के मुख को भेद कर उसमें प्रविष्ठ होती है । तब साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है ।

चतुर्थ उपदेशः

प्रत्याहार का सामान्य अर्थ है इंद्रियों को उनके अपने विषयों से हटाना । घेरण्ड ने भी इसी अर्थ में इसका वर्णन किया है । अंतर मात्र इतना है कि दूसरे ग्रंथों में प्राणायामों के बाद प्रत्याहार का वर्णन है जबकि घेरण्ड ने प्राणायाम से पहले मुद्रा और प्रत्याहार का वर्णन किया है । इसका कारण यह है कि घेरण्ड ने पहले ही प्रत्येक अंग का उपदेश बड़े ही स्पष्ट रूप से शब्दों में बता दिया है । दूसरी बात यह है कि घेरण्ड ने प्रत्याहार को भी यद्यपि मानसिक अभ्यास माना है फिर भी इसको स्थूल रूप

में शारीरिक स्थिरता या अभ्यास से ही प्राप्त होने की संभावना व्यक्त की है । घेरण्ड की मौलिक विशेषता यह है कि इन्होंने पंच ज्ञानेन्द्रियों को अपने–अपने विषयों से लौटाने का अभ्यास अलग–अलग करने के लिये कहा है और तदानुसार ही प्रत्याहार के पांच प्रकारों का वर्णन किया है । अन्य योग ग्रंथकारों ने प्रत्याहार के प्रकारों का वर्णन नहीं किया । इससे ऐसा लगता है कि एक–एक अभ्यास में लेने से प्रत्याहार को सरल बनाने की ओर उनका ध्यान रहा । सर्वप्रथम घेरण्ड ने –

(1) चक्षु इंद्रिय के द्वारा जाने वाले मन को उसके विषयों से निर्मित करने को कहा है । उसके बाद

(2) श्रवण इंद्रिय

(3) त्वग इंद्रिय

(4) ध्राण इंद्रिय

(5) रसेन्द्रिय के द्वारा जाने वाले मन को प्रत्यावृत करने को कहा है ।

पंचम उपदेशः

इस पूरे उपदेश में विस्तार से प्राणायाम का वर्णन किया गया है किन्तु आरंभ में स्थान, काल एवं मिताहार आदि का विवेचन एवं नाड़ी शुद्धि की अनिवार्यता पर जोर दिया गया है । सदाचारों व सुव्यवस्थाओं को योगाभ्यास के प्रारंभ में अपनाने का निर्देश अन्य योग ग्रंथों में है । परन्तु घेरण्ड ने इनको प्राणायाम के अभ्यास से पहले वर्णित किया है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य यौगिक अभ्यासों की अपेक्षा प्राणायाम को घेरण्ड ने अधिक महत्व का अभ्यास माना है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त एवं वैज्ञानिक तथ्य है ।

नाड़ी शुद्धिः

पुस्तक के प्रारंभ में ही यद्यपि षटक्रियाओं का विवेचन विस्तार से किया गया है जिससे नाड़ी शुद्धि हो जाये तब आसन का अभ्यास प्रारंभ हो । किन्तु घेरण्ड

ने प्राणायाम के अभ्यास से पूर्ण नाड़ी पर बल देकर उसकी प्रक्रिया का वर्णन किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि घेरण्ड ने शरीर शुद्धि का महत्व काफी अधिक बढ़ा चढ़ाकर कहा है । क्योंकि यह सर्वथा उचित व वैज्ञानिक महत्व की बात है। दूसरे ग्रंथकारों ने जहां अनुलोम विलोम या बिना कुम्भक के रेचक–पूरक के अभ्यास से नाड़ी शुद्धि का निर्देश किया है। वहां घेरण्ड ने अनुलोम विलोम को अन्य सभी प्राणायाम कुम्भक के साथ ही करने को कहा है । इन्होंने नाड़ी के दो प्रकार बताये हैं –

1. सामनु 2. र्निमनु

सामनु की शुद्धि के लिये इन्होंने बीज के साथ कुम्भक का विधान बताया है ।
र्निमनु नाड़ियों की शुद्धि षटक्रियाओं से हो जाती है ।

कुम्भकः घेरण्ड ने कुम्भक के 8 प्रकार बताये हैं ।

1.	सहित	2.	सूर्यभेदन	3.	उज्जायी	4.	शीतली
5.	भस्त्रिका	6.	भ्रामरी	7.	मूर्छा	8.	केवली

सहित के दो भेद किये हैं । सगर्भ एवं निगर्भ

बीज (मंत्र) सहित कुम्मक को सभर्म तथा बीज (मंत्र) रहित कुम्भक को निर्गभ कहा गया है । इस प्रकार कुल दस प्रकार के कुम्भक कहे गये है। कुम्भक में त्रिबंधों की अनिवार्यता घेरण्ड ने भी रखी है और उड्डियान बंध पर अधिक बल दिया है । जो कि अत्यंत वैज्ञानिक व युक्ति युक्त चिंतन कहा जा सकता है । घेरण्ड ने कुछ कुम्भकों के लाभों का वर्णन अपने ढंग से किया है । उन्होंने सूर्यभेदन कुम्भक से कुण्डलिनी जागरण होना बताया है तथा भ्रामरी से अनाहत नादों का श्रवण होना एवं अंतर्गत ज्योति में लीन होकर समाधि की स्थिति में पहुंचने की बात की है । इस प्रकार कुम्भक की प्रक्रिया में अन्य ग्रंथों के साथ करीब–करीब समानता रहने पर भी लाभों में अंतर दिखाया गया है ।

षष्ठम उपदेशः

घेरण्ड संहिता में षष्ठम उपदेश में ध्यान के तीन विभाग कर विस्तार से उनका वर्णन किया है । ये हैं, स्थूल ध्यान, सूक्ष्म ध्यान, ज्योर्तिमय ध्यान। इनमें स्थूल ध्यान से 100 गुना उत्तम ज्योर्तिमय ध्यान या तेजोमय ध्यान को कहा गया है और तेजो ध्यान से लाख गुना उत्कृष्ट सूक्ष्म ध्यान को कहा गया है । इसमें एक विशेषता यह है कि सूक्ष्म ध्यान की प्रक्रिया में इन्होने कुण्डलिनी जागरण के बाद शाम्भवी मुद्रा की प्रक्रिया के साथ इस ध्यान की संभावना का वर्णन किया है।

सप्तम उपदेशः

घेरण्ड के अनुसार सप्तम उपदेश में घट अर्थात् शरीर को सर्वथा भूलकर मन को अन्य (परम) आत्मा में लगा देना समाधि है उनके अनुसार समाधि के 6 प्रकार है शाम्भवी समाधि, भ्रामरी समाधि, खेचरी समाधि, योनिमुद्रा समाधि जो क्रमशः ध्यान, नाद, रसानंद, लय के वाचक है भक्ति योग समाधि तथा मनोमूर्छा समाधि। घेरण्ड ने समाधि के ये प्राकर अन्य सभी योग ग्रंथों से सर्वथा अलग है।

स्पष्ट है कि समाधि का प्रकार बताते समय घेरण्ड ने प्राणायाम एवं मुद्रा को ही प्रमुख आधार बताया है। इसका यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राणायाम या मुद्रा ही समाधि की स्थिति को प्राप्त कराने में सार्वधिक उपयोगी है इतने स्पष्ट रूप में समाधि के लिये इन दो योगांगो को प्रमुखता देकर उनके नाम से ही समाधि के उक्त प्रकारों का नाम करण करना घेरण्ड जैसे हठयोगी से ही सभंव था ।

इस प्रकार घेरण्ड सहिता के अनुसार हठयोग के सप्तांग का वर्णन ऊपर लिखितनुसार था जिसका उपयोग कर साधक योग के क्षेत्र में आध्यात्मिक लाभ प्राप्त कर सकता है।

हठप्रदीपिका अनुसार–

हठयोग को चार अंगों में विभाजित किया गया है जो निम्नलिखित है। आसन, प्राणयाम, मुद्रा, नादानुसंधान । इन चार पायदानों पर क्रमशः चढ़कर

साधक राजयोग के ऊँचे स्थान तक अर्थात् जीवन्मुक्ति या सहजावस्था तक पहुँच जाता है । इन चार अंगों का वर्णन अब विस्तार से करेंगे ।

1. आसन–

हठयोग में सर्वप्रथम अंग के रूप में आसन को स्वीकारा गया है । हठयोग के अनुसार शारीरिक व्याधियों को दूर कर प्रखर स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिये प्रभावशाली साधना है आसन। इसमें हठयोग के प्रमुख अचार्य स्वामी स्वात्माराम जी ने अपनी हठयोग प्रदीपिका के आरंभ में हठयोग को एक सोपान या सीढ़ी कहा है जिसका उद्देश्य राजयोग की प्राप्ति है और इसके लिये उन्होंने केवल कुछ चुने हुये आसनों का अभ्यास बताया है जो निम्नलिखित है –

1. सिद्धासन	2. पद्मासन
3. स्वास्तिक आसन	4. भद्रासन
5. गौमुख	6 वीर आसन
7 कूर्मासन	8 कुक्कट आसन
9 उत्तान कूर्म आसन	10 धनुर आसन
11 पश्चिमोत्तान आसन	12 मयूर आसन
13 सिंहासन	14 मत्स्येन्द्र आसन
15 शव आसन आदि	

इन आसनों के अभ्यास से शरीर शक्तिशाली और हल्का बनता है। इससे आलस्य और भारीपन का अनुभव समाप्त होता है। हठयोग के वर्णित आसनों के अभ्यास से शरीर सुदृढ़, सुगठित, आकर्षक और पूर्णतया रोगमुक्त हो जाता है तथा इन आसनों को करने वाले साधक को स्थैर्य आरोग्य की प्राप्ति होती है ऐसा हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है।

हटस्थ प्रथमाग्ङः वासनं पूर्वमुच्चते ।

कुर्यात वासनं रूधयमारोग्यं चागलधयस।।हठयोग प्रदीपिका 1/19

इस प्रकार आसन के द्वारा चित्त की चंचलता को नष्ट करके शरीर निरोग होता है, जिससे त्रिगुणात्मक विकारों का शमन होकर योगाभ्यास में दृढ़ता प्राप्त होती है तथा भूख, प्यास, रोग आदि की भी निवृत्ति होती है। आसनों की संख्या चौरासी लाख है किन्तु शिवजी ने चौरासी आसनों का कथन किया है और उनमें भी केवल चार आसन श्रेष्ठ है।

चतुरशीत्सासना निशिवेन कथितानि च।
तेम्सश्चतुष्कर्मादायं सारभूतं ब्रवोम्यहम्।। हठयोग प्रदीपिका 1/35

सिद्धासन, पदमासन, सिहांसन और भद्रासन इनमें भी जो सिद्धासन है वह और भी श्रेष्ठ है । क्योकि 'नासंन सिद्ध सद्रशं' अर्थात् सिद्धासन के समान कोई आसन नहीं है यह सिद्ध पुरूषों का प्रिय आसन है, इससे साधक को साधना की सिद्धि प्राप्त होती है, इसीलिये इसका नाम सिद्धासन रखा गया है।

सर्वश्रेष्ठ चार आसनों की विधि हठप्रदीपिका के अनुसार निम्नलिखित है–

1. **सिद्धासन**– सिद्धि देने वाला या सिद्धों द्वारा ग्रहित होने से इसे सिद्धासन कहा जाता है।

विधि– पैरों को सामने फैलाकर बैठ जाइये । बांया पैर मोड़कर उसकी एड़ी सीवनी (गुदा) एवं मूत्रेन्द्रिय के मध्य का स्थान में लगाये । दाहिने पैर की ऐड़ी जननेन्द्रिय के ऊपर वाले भाग में स्थित करें । इस स्थिति में बाये पैर के टखने पर दाहिने पैर का टखना होगा । दाहिने पैर का पंजा बांये पैर की जंघा और पिडली के मध्य में रहना चाहिये ऐसे ही बांये पैर को दाहिने पैर की जंघा और पिडली के मध्य स्थित करें । दोनो पैरों के घुटने भूमि पर टिके हुये रहेंगे, दोनों हाथ ज्ञान मुद्रा (तर्जनी आंगुली, अंगूठे के मूल में मुड़ी हुई शेष तीनों अंगुलियाँ सीधी) बनाकर घुटनों पर सीधी स्थित करें । शरीर न ढीला एवं न ही अकड़ा हुआ हो, रीढ़ गर्दन सिर सीधा रहना चाहिये । ठोड़ी कंडकूप में लगाकर जालधंर बंध लगाना चाहिये । दृष्टि नासिकाग्र पर या भूमध्य

पर स्थिर रहनी चाहिये हठयोग में इस आसन को प्रमुखता दी गई है । चौरासी आसनों में से सिद्धासन का अभ्यास सदैव करना चाहिये यह सिद्धों की धारणा है।

योनिस्थानकमड़घ्रिमूल घटित कृत्वां हदं विन्सझेत्
मेद्रे पादमयै कमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ।।
स्थाणुः सयंमितोन्द्रियोडचलदशा पश्येदभ्रुवोरन्तरं ।
ह्योतन्मोक्षकपाट भेदजनकं सिद्धासनं प्रोव्यते।। ह.प्रदीपिका 1/35

सावधानियाँ– सायटिका और रीढ़ के निचले भाग की गड़बड़ी से पीड़ित व्यक्तियों को सिद्धासन का अभ्यास नहीं करना चाहिये ।

समय– इस आसन को आधे मिनट से प्रांरभ कर पाँच या दस मिनिट या इससे भी अधिक देर तक लगाया जा सकता है।

लाभ– सिद्धासन के अभ्यास से सिद्धि की प्राप्ति शीध्र होती है, यह मोक्षफल तथा सर्वसुखदाता है, इसके द्वारा बहत्तर हजार नाड़ियों का मलशोधन होता है।

(2) पदमासन– इस आसन को पदमासन इसीलिये कहते हैं कि इस आसन में बैठने पर आकृति पदमपुष्प के समान हो जाती है । विपरीत दिशा के उरूमूल पर जमाये हुये पैर पदमपत्रा और एढ़ियों पर तले ऊपर रखे हुये हाथ खिले हुये कमल का रूप ग्रहण करते है इसीलिये इस आसन को पदमासन कहा गया है।

इह उरूनो चरणों कृत्वा अरूसंस्थो प्रयत्मतः।
उरूमध्य तथोत्तनो पाणी कृत्वां तु ताहशो।। हठयोग प्रझीपिका 1:47

विधि– दाहिना पैर बायी जंघा पर बायां पैर दाहिनी जघां पर रखे। पैरों के पंजों से निचले उदर भाग पर (बस्ति प्रदेश) दवाब पड़े इस प्रकार सटे हुये हो, हाँथ दोनों घुटनों पर ज्ञानमुद्रा में रखिये। पीठ, गर्दन, सिर, समान रहे तथा दृष्टि नासिकाग्र या भ्रूमध्य पर रहे।

सावधानियाँ— जिन्हें जमीन पर बैठना भी कठिन हो वे इसे न करे । घुटनों में दर्द हो तो पदमासन न करे । किसी योग शिक्षक की सलाह लीजिये ।

समय— इस आसन को आधे मिनिट से लेकर 10 मिनिट तक या इससे भी अधिक समय तक लगाया जा सकता है। इस आसन में यदि ढाई घंटा बैठ सकते है तो उसे आसनजय कहते हैं।

लाभ— सभी व्याधियों का नाशक निम्न भागों के छोर की पेशियों का रक्त की प्राप्ति करता है जठराग्नि प्रदीप्त करके शक्ति बढ़ाता है। वातरोग का निवारण, शरीर की धातुओं को संतुलित कर ब्रहमचर्य की रक्षा करता है, चित्त शांत हो जाती है । आध्यात्मिक साधना में पदमासन का महत्व अधिक है।

(3) सिंहासन— इस आसन में शरीर विशेष कर चेहरा सिंह जैसा उग्र लगता है इसलिये इसे सिंहासन कहते हैं।

गुल्फौ च वृषणस्याधः सविन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत।
दक्षिणे सत्यगुल्फं तु दक्ष गुल्फं तु सत्यके ।।
हस्तौ तु जान्वौः संस्थाप्य स्वागुलीः सप्रसीय च ।
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं तु समाहितः ।।
सिहासंन भवेदेतत् पूजितं योगिपुडगवैः ।
वन्धं तियसंधान कुरूते चासनोत्तमम्।।हठयोग प्रदीपिका 1:50:1:50

विधि— दोनों पावों की एड़ियों को व्युत्क्रम पूर्वक अण्डकोषों के नीचे सीवनी के दोनों ओर पार्श्वो में लगाना चाहिये । जिससे पैरों की रचना इस प्रकार बने कि शरीर का सम्पूर्ण भार एड़ियों पर आये । घुटने जमीन पर रहेंगे । हाथ सीधे रखकर पंजे जंघाओं पर रखकर दोनों हाथों की उंगलियों फैली रहेगी, पेट को अंदर खींचकर मुहँ को खोलकर नासाग्र में दृष्टि लगाते है जिव्हा को बलपूर्वक बाहर की ओर निकालकर ठोढ़ी पर लगाते है। श्वसन समान्य रहेगा ।

सावधानियाँ– बहुत शक्ति खर्च करके या अधिक प्रयत्न करके यह आसन नही करना चाहिये, पैरों को वृषण के नीचे ले जाते समय सावधानी रखिए । रीढ़ सीधी रहेगी।

समय– 15–20 सकेड़ से लेकर 3 मिनिट तक स्थिर रह सकते है।

लाभ– सभी व्याधियों को नष्ट करने वाला उदर, पैर, कमर, मूलाधार से लेकर गर्दन तक तथा पाचन संस्थानं, निःस्त्रोत ग्रन्थियों को लाभ मिलता है, मन एकाग्र होता है। मनोदौर्वल्य दूर होता है नैराश्य नहीं आता।

4. भद्रासन– भद्र का शब्दिक अर्थ है महान या पवित्र इसलिये इसको भद्रासन कहते हैं।

विधि– दोनों पैर के पंजो को जोड़कर धीरे धीरे नितम्ब के नीचे ले जाऐ घुटने जमीन पर रहेंगे दोनों हाथों से पैरों के पंजें को पकड़ लें। पीठ, गर्दन, सिर सीधा रहेगा, जांलधर बंध लगाकर नासाग्र को देखे।

सावधानियाँ– जोड़ों के दर्द वाला व्यक्ति नहीं करें।

समय– आधे मिनिट से लेकर दो मिनिट तक।

लाभ– सभी व्याधियों को लेकर नष्ट करने वाला उदर, पैर, कमर, मूलाधार से लेकर गर्दन तक, पाचन संस्थान तथा निः स्त्रोत ग्रन्थियों को लाभ मिलता है।

इसी के साथ–साथ खापनान के संबंध में भी स्वात्माराम जी ने विशेष हिदायतें दी है जिसके अनुसार मिताहार उपदेशित है उनके अनुसार खाने में सीमा का विशेष ध्यान रखना चाहिये । अत्याहार विशेष दक्ष होने से टालना चाहिये । खाने में 1/2 धनरूप, 1/4 हिस्सा द्रव रूप 1/4 वायु के लिये या प्राण सक्रियता के लिये खाली छोड़ना चाहिये । सामान्यतः खाने के फलस्वरूप भारीपन नहीं आना चाहिये । संक्षिप्त में अति सर्वत्र वर्जते ऐसा निर्देश दिया है।

2. प्राणायाम–

द्वितीय उपदेश प्राणायाम पर केन्द्रित है। आसन एवं आहार की दृढ़ता पर विशेष ध्यान देकर तथा जानकर गुरू या व्यक्ति के निर्देश में प्राणायाम का अभ्यास किया जाना चाहिये । प्रारंभ में नाड़ी शोधन का भी वर्णन किया है । कुम्भक का भी जिक्र है परन्तु तत्पश्चात् स्पष्ट किया है कि प्राणायाम के अभ्यास से पूर्व नाड़ियों शुद्ध होनी चाहिये । अतः षटक्रिया भी प्राणायाम के पहले आश्यक होती है नेति, कपालभाति का भी वर्णन विस्तार से क्रिया है। इसके बाद ही प्राणायाम का वर्णन विस्तार से किया गया है । षटक्रियाओं के अभ्यास में क्षमता प्राप्त होने पर कफमुक्ति मोटापे में कमी एवं मल हटाने के कार्य हो जाते है, और प्राणायाम लाभ ज्यादा प्रभावी हो जाता है।

प्राणायाम के आठो प्रकारों का वर्णन विस्तार से किया जाता है। उनका उपयोग पहले सीखने हेतु नियमित रूप से सीमित मात्रा में किया जाए। क्षमता प्राप्त होने पर इनका अभ्यास एवं उपयोग किया जाए, मन की चचंलता पर विजय प्राप्त करने के लिये प्राण का निरोध करना आवश्यक है अर्थात् प्राणायाम द्वारा वायु को संयमित करना है। हठयोग प्रदीपिका में आसनों की दृढ़ता होने पर हितकर मिताहार करता हुआ योगी गुरू द्वारा बताये हुये मार्ग से प्राणायामो का अभ्यास करें।

आसने दृढ़े योगी वशी हितमिताशनः।
गुरू पदष्टिमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत।।हठयोग प्रदीपिका–2/1

जब तक नाड़िया मल से भरी हुई है तब तक प्राण–वायु मध्यगामी नहीं होता। अतः प्राणायाम के द्वारा नाड़ी चक्र को पूर्ण शुद्धि करने पर ही प्राण संग्रह से सक्षम होता है इसलिये नित्यप्रति प्राणायाम करने से सुषुम्ना नाड़ी में स्थित मल की शुद्धि हो जाती है।

प्राणायाम विधि– किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठकर दाहिना नासिका (पिंगला, सूर्यनाड़ी) से सांस लेकर बायी नासिका (इड़ा, चद्रनाड़ी) से रेचक करे यह अनुलोम

विलोम कहलाता है। सर्वप्रथम इसका अभ्यास करना चाहिये कुछ समय अभ्यास में दक्षता प्राप्त होने पर कुम्भक का भी अभ्यास करना चाहिये। अंदर रोकने पर आंतरिक कुम्भक बाहर राकने पर बाह्य कुम्भक कहलाता है।

इस प्रकार अनुलोम विलोम (नाड़ी शोधक) का अभ्यास हो जाय तो शरीर की कृशता और मुख पर तेज दिखाई देने लगता है। सौन्दर्य निखर जाता है और देह पुष्टि होती है जिससे आहार की पाचन शक्ति बढ़ती है कान मे अनाहत नाद स्पष्ट सुनाई देने लगता है और शरीर निरोग हो जाता है। अतः प्राणायाम के द्वारा नाड़ी शोधन होता है जिससे चित्त एकाग्र होता है और फिर सिद्धि प्राप्त होती है।

प्राणायाम साधन के लिये चार बातों की आवश्यकता है। प्रथम उपयुक्त स्थान, द्वितीय नियमित समय, तृतीय मिताहार और चतुर्थ नाड़ी शुद्धि, पश्चात् प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये ।

हठयोग में आठ प्रकार के प्राणायाम बतलाये गये हैं– सूर्य भेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा, प्लावनी (केवली)।

पूरक रेचक कुम्भक को भलिभाँति समझकर इनका यथोचित अभ्यास करना चाहिये प्राणायाम अत्यंत महत्वपूर्ण है। उसी के माध्यम से ही चित्त निरालंब हो जाता है तभी राजयोग की प्राप्ति संभव है। दोनों परस्पर परावली है।

परन्तु यहाँ पर यह स्पष्ट करना उचित है कि साधक को प्राणायाम का अभ्यास क्रमशः विकसित करते हुये करना चाहिये। उसे धीरे–धीरे अनुपात बढ़ाना चाहिये कम से कम उसे 6 माह तक ही एक ही अनुपात में अभ्यास करना चाहिये जो कि इस प्रकार है। 1:1:2, 1:2:2, 1:2:3, 1:4:2

स्पष्ट है कि यदि मिनिट में पूरक करते है (श्वास लेना) तो 1 मिनिट कुम्भक करें और दुगुने समय में रेचक श्वास छोड़े करें इस प्रकार क्रमशः अभ्यास बढ़ाना चाहिये।

3. मुद्रा

हठयोग के तीसरे अंग में स्वामी स्वात्मारामजी कुण्डलिनी जागरण की ओर मुड़े है और इसके लिये उन्होंने मुद्राओ के अभ्यास की ओर विशेष ध्यान दिया है। हठयोग की क्रिया में मुद्रायें अत्यंत आवश्यक है क्योकि आसनों में केवल अस्थिसमूह दृढ़ होता है, जबकि मुद्राओं की क्रिया कुण्डलिनी शक्ति को जगाने और चक्रवैध के लिये उपयोगी है। मुद्राओं के द्वारा मानव शरीर के स्वयं कार्य करने वाले स्कंधों और स्नायुओं की क्रिया का ज्ञान होता है, मानव शरीर में 72 हजार नाड़ियाँ हैं। यही नाड़ियाँ शरीर के विभिन्न अवयवों का चालन करती है। जिसके द्वारा समूचे शरीर को शक्ति मिलती रहती है । इस शक्ति का अनुभव केवल योगी ही कर पाते है किन्तु हठयोग प्रदीपिका में केवल दस मुद्राओं का ही वर्णन मिलता है।

महामुद्रा महा बंधौ महावैधश्च रवेचरी ।
उडयानं मूलबधश्च बंधो जालंधशमियः ।।

करणी विपरीताख्या बाज्रोली शक्तिचालाम ।
उदं हि मुद्रादशां जरामरणनाशम–1।। हठयोग प्रदीपिका 2/6,7

महामुद्रा, महाबंध, महावैध, खेचरी, उडयात, विपरीत करणी, बज्रोली, शक्तिचालनी, मूलबंध, जालंधर बंध आदि । इनके उपयोग से सुषुम्मा जो महत्वपूर्ण नाड़ी है वह सक्रिय होकर कुण्डलिनी जागरण की सभावनाऐं बढ़ती है। इस वास्तविकता के बावजूद वर्तमान में इनका अभ्यास बहुत सीमित मात्रा में होता है।

4. नादानुसंधान

हठयोग प्रदीपिका में चतुर्थ अंग के रूप में समाधि लक्षण का नाम दिया गया है जिसमें साधक विभिन्न मुद्राओं का अभ्यास करता हुआ नादानुसंधान साधता है। तत्पश्चात् आरंभ अवस्था, घटावस्था, परिचय अवस्था, निष्पति अवस्था आदि को प्राप्त करता है इसके दौरान षठचक्रों का भी सक्रिय होना संभव हो जाता है। आजकल इनका अभ्यास सीमित मात्रा में होता है । केवल ऐसे योगी जो आध्यात्म मार्ग में

उन्नति चाहते हैं, इस ओर ध्यान देते है। जैसे स्वात्मारामजी ने अपने हठयोग के प्रथम अध्याय में ही कहा है हठयोग का उद्देश्य राजयोग में प्रवेश करना है उस दृष्टि से यहाँ हठयोग का समापन हुआ सा मानना एक हिसाब से ठीक होगा और इसके आगे की यात्रा राजयोग की होगी । जिसके लिये अगला अभ्यास नादानुसंधान है जिसका वर्णन इस प्रकार है।

नादानुसंधान– दो शब्दों से मिलकर बना है नाद+अनुसंधान । यहाँ नाद का अर्थ है ध्वनि और अनुसंधान का तात्पर्य है खोजना। इस प्रकार दोनों का तात्पर्य है नाद की खोज। नाद दो प्रकार का होता है– **अनाहत नाद या मूर्त नाद।**

मूर्त नाद हमें प्रत्यक्ष सुनाई देता है हमारे वातावरण में जो नाद या ध्वनि सुनाई देती है वह आहद या मूर्त कहलाता है । जबकि अनाहद नाद का संबंध हमारे शरीर से उत्पन्न होने वाले नाद से है जो हमें प्रत्यक्ष सुनाई नहीं देता है। इसके लिये सूक्ष्य ध्यान की आवश्यकता होती है या फिर यह नाद हम कानों को बंद करके भी सुन सकते हैं।

नाद सुनने की विधि– किसी ध्यानात्मक आसन में बैठकर या सिद्धासन में बैठकर अपनी ज्ञानेन्द्रियों को अंर्तमुखी करते हुये अपना ध्यान दक्षिण कान में लगाइये या दोनों हाथों की उंगलियों से दोनों कान, आँख, नाक, मुँह बंद करें इसके बाद साधक अपने आंतरिक नादों को सुन सकता है।

कुंडलिनी जागृति के बाद जब वह अनाहत चक्र में पहुँचती है तथा हृदय आकाश में प्राण स्थिर हो जाता है तब साधक को कुछ विशेष प्रकार के नाद सुनाई देने लगते है। नाद श्रवण के समय दस प्रकार के नाद, क्रमानुसार सुनाई पड़ते है। प्रथम में भोर की गूजं, सागर की लहरों की ध्वनि, मेघ गर्जन, नगाड़े तथा झरने की ध्वनि के समान नाद सुनने में आते है। उसके बाद सांस, शंख, घंटा आदि के नाद सुनाई पड़ते है और अंत में वीणा, बासुँरी, भ्रमर आदि के नाद सुनने में आने लगते है।

योगाभ्यास में आसन प्राणयाम, मुद्रा और बंध के अभ्यास का सह फल होता है। जब नाद की उत्पत्ति होने लगती है तब साधक को उसी में अपना मन लगाना चाहिऐ । नाद की उत्पत्ति होन पर आरंभ में ध्वनि अधिक जोर से सुनाई देती है। अभ्यास जैसे–जैसे बढ़ता है। वैसे–वैसे ध्वनि या नाद अधिकाधिक सूक्ष्म होता जाता है। इसी को नादानुसंधान या मनोलय का अभ्यास कहते हैं। हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है कि ईधन में प्रवृत्त हुई आग ईधन को समाप्त करने पर स्वयं बुझ जाती है। इसी प्रकार नाद को सुनने में लगा चित्त नाद के साथ शांत हो जाता है। यही बात शंकराचार्य ने अपने योग तारावली में कही है कि प्राणायाम के दीर्घ अभ्यास से जब शरीर की सभी नाड़ियां मलरहित हो जाती है तब अनेक प्रकारों से अंतरग में नाद सुनाई पड़ता है। उस नाद को सुनना अर्थात् नादानुसंधान परमतत्व की प्राप्ति का साधन बन जाता है।

हठयोग में कहा गया है कि–

आरम्भश्च घटश्चेत तथा परिचयोऽसि च।
निष्पतिः सर्वयोगेषु स्वादवस्थाचतुष्टयम।।हठयोग प्रदीपिका 4/69

नाद की चार अवस्थाओं का वर्णन इस प्रकार है–

1. आरंभ अवस्था– प्राणायाम के अभ्यास से ब्रह्मग्रंथि का भेदन होता है। तब आनंद को उत्पन्न करने वाला अनाहद नाद उत्पन्न होता है । उससे योगी का शरीर दिव्य गंध से परिपूर्ण रोग रहित हो जाता है।

2. घटावस्था– नाद की दूसरी अवस्था घटावस्था है जिसमें प्राण अपने साथ अपान, नाद और बिन्दु को मिलाकर कंठचक्र में स्थित विष्णु ग्रंथि में जा पहुँचता है। उससे योगी रूप युक्त एवं निरोग रहता हुआ संपूर्ण रूप से देवताओं के समान हो जाता है। फिर कंठ में विद्यमान विष्णु ग्रंथि को प्राणायाम के अभ्यास से भेदन कर लेने पर परमानंद प्राप्ति के सूचक मृदंग नामक वाद्य विशेष अथवा भैरीय का सत्य अति शून्य

रूप में कंठ देश में सुनाई देने लगता है। वह शब्द आनंद युक्त होता है। जिससे योगी नितांत रूप से रम जाता है।

3. परिचय अवस्था— परिचय अवस्था में नगाड़ा या मृदंग वाद्य विशेष की ध्वनि सुनाई देती है। उस समय प्राण वायु आज्ञाचक्र में पहुँचने पर अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती है।

4. नाद की निष्पत्ति अवस्था— निष्पत्ति अवस्था में जब प्राण ब्रह्मरन्ध्र को प्राप्त हो जाता है तब साधक को वंशी और वीणा के शब्द सुनाई देने लगते है और चित्त में एकाग्रता ही राजयोग है, यह अवस्था जीवन मुक्ति कहलाती है। उस समय साधक ईश्वर के समान शक्तिवान और ऐश्वर्य वान तथा सब प्रकार से समर्थ हो जाता है। इस प्रकार नादानुसंधान हठयोग का एक महत्वपूर्ण साधन है। वह नाद के साथ चित्त के लय का साधक है।

सदा नादानुसंधानत्क्षीयन्ते पापसचयाः।
निरंजने विलीयते निश्चितं चित्त मारूतां।। हठयोग प्रदीपिका 4/105

नादानुसंधान के अभ्यास से अखण्ड सुख अनुभव होता है। इससे सभी विशेष नष्ट हो जाते है मन वश में हो जाता है। जो योगी नाद के अनुसंधान में लगा रहता है। उसके सब प्रकार के पाप र्निमूल होकर चित्त और प्राणवायु दोनों ही ब्रहारन्ध्र में विलीन हो जाते है।

इस प्रकार हठयोग जो कि योग का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है उसमें दोनों ही प्रकारों से हठयोग की जानकारी दी गई है। घेरण्ड संहिता और हठयोग प्रदीपिका दोनों के आधार पर हठयोग का वर्णन यहाँ पर किया गया है। फर्क इतना है कि घेरण्ड संहिता में सात अंगों का वर्णन है। जबकि हठयोग प्रदीपिका में केवल समग्र रूप से राजयोग जो कि योग का अंतिम लक्ष्य है उसे प्राप्त करने का संपूर्ण प्रयास किया गया है। क्योंकि यही हठयोग का उद्देश्य भी है।

अध्याय—4

वर्तमान समय में योग का महत्व

आज के युग को भौतिक वाद कहे तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी क्योंकि वर्तमान में समस्त समाज और समाज में रहने वाला प्रत्येक मनुष्य पूर्ण रूप से इस भौतिक वादी युग की चपेट आ चुका है। इससे छुटकारा पाना तो असंभव सा है क्योंकि मनुष्य को अपना जीवन तो इसी संसार में रहकर व्यतीत करता है। लेकिन मनुष्य यदि अपना जीवन सयंमित रहकर व्यतीत करना चाहे तो वह बीच का रास्ता अपना कर इस समस्या से छुटकारा पा सकता है जहाँ आज सभी कार्य मशीनों के द्वारा सम्पन्न किये जाते है वहाँ मनुष्य की बुद्धि का प्रयोग नगण्य सा हो गया है । जहाँ कुछ व्यवसाय ऐसे है जिसमें शारीरिक, मानसिक श्रम इतना अधिक है कि व्यक्ति उससे पीड़ित सा हो गया है। इन दोनों ही परिस्थितियों मे मनुष्य ने अपने आपको कई व्याधियों से पीड़ित पाया है। जिसका उपचार योग के द्वारा संभव हो सका है। इस कारण आज के इस वर्तमान समय में (आधुनिक समय) योग का प्रचार—प्रसार बढ़ता जा रहा है। आज मनुष्य इन्हीं सभी समस्याओं से छुटकारा पाने के लिये योग की शरण में आ रहा है। उसकी जागरूकता योग के प्रति बढ़ी है और उसने अपनी समस्याओं को काफी हद तक योग की सहायता से सुलझाया भी है। इस प्रकार आज योग का प्रचार—प्रसार सभी क्षेत्रों में हो रहा है और प्रत्येक व्यक्ति उसे अपनाना चाहता है चाहे वह किसी भी क्षेत्र में कार्यरत् हो। यह नहीं है कि केवल विद्यार्थी और युवा पीढ़ी ही इसे अपना रही है अपितु इसे समाज के प्रत्येक वर्ग के लोग अपना रहे है। हर उम्र का व्यक्ति योगाभ्यास कर सकता है। चाहे बच्चा, बृद्ध या जवान या फिर महिलाऐं ही क्यों न हों, सभी इस दिशा की ओर अग्रसर होते दिखाई पड़ रहे है। चाहे फिर उनका उद्देश्य स्वयं को स्वस्थ रखना हो या फिर शरीर को सुन्दर बनाये रखना हो, या फिर अपना जीवन संयमित ढंग से व्यतीत करना हो । उद्देश्य कुछ भी हो परन्तु योग को अपना कर व्यक्ति अपना जीवन सुखी बना रहा है, और सुखी जीवन

व्यतीत करना आज प्रत्येक मनुष्य का ध्येय है। वह अपने जीवन में प्रति क्षण सुखी रहने की कामना करता है, और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये वह सतत् प्रयासरत् रहता है। मनुष्य का जीवन आकांक्षाओं से भरा हुआ है । क्योंकि उसकी कामनाओं का कोई अंत ही नहीं है । एक इच्छा समाप्त होने के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी यही क्रम चलता रहता है । जिसके कारण वह इस व्यस्तता में लगा रहता है, और इस प्रकार की अंधाधुंध दौड़ से ऊबकर आज व्यक्ति ने अपने को योग की ओर उन्मुख कर अपने जीवन का सही मायने में उपयोग करना सीखा है । योग को अपने जीवन में अपना कर आज वह विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति कर रहा है । कुछ व्यक्ति योग को नियमित और कुछ अनियमित रूप से योग का अभ्यास कर उसकी महत्ता को स्वीकार कर रहे हैं । आज योग का विकास उन्नति के शिखर की ओर अग्रसर हो रहा है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण कुछ विशेष संदर्भों में देखने को मिलता है । स्वास्थ्य के क्षेत्र में, शिक्षा के क्षेत्र में, व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में, योग को वृत्ति के रूप में, आध्यात्मिक विकास आदि लक्ष्यों को प्राप्त करने में योग का महत्व दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है । ऐसे विभिन्न उद्देश्य वर्तमान समय में योग के महत्व को परिलक्षित करते है ।

स्वास्थ्य के क्षेत्र में

आज सामान्यतः अधिकांश व्यक्ति स्वस्थ एवं सुखी जीवन व्यतीत करने की कामना करते हैं और इसलिये स्वास्थ्य का महत्व दिन– प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। क्योंकि स्वस्थ व्यक्ति ही सुखी जीवन व्यतीत कर अपना, परिवार का और समाज का कल्याण कर सकता है। इसलिये आज मनुष्य स्वास्थ्य के प्रति जागरूक हो चुका है और वह अपने आपको इस व्यस्तपूर्ण जिन्दगी में शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार से स्वस्थ रखना चाहता है। इस कारण भी अधिकांश व्यक्ति योग को सीखने के लिये आकर्षित हुये है और उनका रूझान योग की तरफ बढा है । क्योंकि योग एक स्वस्थ जीवन जीने की कला है । आज के इस भौतिक वादी युग में प्रत्येक मनुष्य

अपने आपको रोगमुक्त और निरोगी रखकर इस स्पर्धात्मक जीवन शैली से अपना सामाजंस्य बनाये रखना चाहता है और वह अपने जीवन के उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है इस दृष्टि से योग का महत्व बढ़ गया है। क्योंकि स्वस्थ व्यक्ति ही देश की उन्नति में हाथ बँटा सकता है।

स्वास्थ्य से ही संबंधित व्याधि है। यह शारीरिक और मानसिक दोंनों ही प्रकार की हो सकती है। लेकिन यदि व्यक्ति आज के इस युग में शारीरिक व्याधि से कम मानसिक व्याधि से अत्यधिक ग्रस्त है इसके लिये आजकल तनाव या टेन्शन शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार का हो सकता है और योग के अगों आसन, प्राणायाम आदि का अभ्यास कर काफी हद तक इस समस्या से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन शर्त यह है कि व्यक्ति इसका अभ्यास नियमित रूप से करे और अपना जीवन संयमित ढंग से व्यतीत करें और अपने आहार–बिहार पर विशेष ध्यान दे, तो वह निश्चित तौर पर इस व्याधियों से छुटकारा पा सकता है क्योकि यह अधिकाशतः मानसिक समस्याओं के कारण पैदा होता है और आगे जाकर बीमारियों (रोगों) में परिणित हो जाता है। कुछ समय पश्चात् यह विकराल रूप धारण कर लेता है जिसकी वजह से व्यक्ति या तो पागल हो जाता है या मौत का शिकार बन जाता है। इन्हीं समस्याओं से छुटकारा पाने के लिये व्यक्ति आज योग की ओर उन्मुख हुआ है और उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयास कर रहा है। इन्ही कारणों को लेकर आजकल मनोचिकित्सक और डाक्टर भी व्यक्तियों को योग का अभ्यास कर उन्हें अपने जीवन का अंग बनाने की सलाह दे रहे है।

वर्तमान समय में अधिकांश शारीरिक बीमारियाँ व्यक्ति स्वयं अपनी सोच (मन) के कारण उत्पन्न कर लेता है, और लगातार वह सोच के कारण और अधिक बीमार होता जाता है। कुल मिलाकर सभी बीमारियाँ मन की सोच पर आधारित रहती है। विज्ञान की भाषा में इन्हें साइकोसोमेटिक कहा जाता है। जिनका समाधान योग के माध्यम से किया जा सकता है। आजकल बहुत सी बीमारियों पर योग चिकित्सकों ने

अनुसंधान कर यह साबित कर दिया है कि योग द्वारा उनका उपचार संभव है और यदि व्यक्ति जीवन पयर्न्त योग को अपनाये रहता है, तो वह स्वस्थ भी रह सकता है । परन्तु इसमें नियमितता और धैर्य अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना योग में समस्या का समाधान नहीं है और उससे भी महत्व पूर्ण बात यह है कि अनुभव जब व्यक्ति स्वयं अभ्यास करेगा तभी अनुभव प्राप्त करेगा कि उसे लाभ हो रहा है या नहीं। इस प्रश्न का समाधान उसे उसके अनुभव के आधार पर प्राप्त होगा । बस व्यक्ति को धैर्य के साथ जो भी अभ्यास बताये गये है चाहे वह क्रिया हो आसन, प्राणायाम आदि जो भी अभ्यास बताया गया है उसके अनुसार तथा किसी योग चिकित्सक के मार्ग दर्शन में अभ्यास करना चाहिये जिससे की समस्या का समाधान हो सके । ऐसी बहुत सी बीमारियाँ है । जिनका योग द्वारा उपचार संभव है उनमें प्रमुख है मधुमेह (डायबिटीज) उच्च्व रक्त चाप, निम्न रक्तचाप, कब्ज, एसीडिटी सर्दी, जुकाम सिरदर्द, ग्रीवा, षृष्ठ वेदना, कटि पृष्ठवेदना, नेत्रों की कमजोरी पेट दर्द, बवासीर, अतिसार संग्रहणी श्वतेप्रदर, स्वनदोष राज्यक्षमा, मासिक धर्म की अनियमितता आदि बीमारियों पर योग अभ्यास कर काबू पाया जा सकता है, और स्वयं को व्यक्ति चुस्त–तंदुरूस्त रख सकता है। इन्हीं सब कारणों को लेकर वर्तमान में योग का महत्व बढ़ता जा रहा है और व्यक्ति योग की तरफ स्वयं आकर्षित हो रहा है ।

2. शिक्षा के क्षेत्र में योग की भूमिका

वर्तमान समय में योग को शिक्षा प्रणाली के रूप में लागू करने का कार्यक्रम तेजी से चल रहा है । बहुत सी स्कूलों में इसे अपनाया जा चुका है और बहुत से संस्थानों में मामला विचाराधीन है। बड़े–बड़े कुछ विश्वविद्यालयों में योग को स्नातक और स्तातकोत्तर डिग्री तक लागू किया जा चुका है जहाँ पर सामूहिक रूप से योगाभ्यास कराया जाता है । कुछ जगह पर योग में केवल डिप्लोमा कराया जाता है वहाँ पर त्रैमासिक है महीने का और एक वर्ष का डिप्लोमा कोर्स कराया जाता है, वहाँ जाकर व्यक्ति स्वंय योग निर्देशक की देखरेख में योगाभ्यास करता है। इसी प्रकार

शिक्षा एव नैतिकता के विकास में भी योग का महत्वपूर्ण स्थान है। आज विभिन्न स्कूलों विद्यालयों में योग को आंशिक रूप से तथा उच्चस्तरीय रूप से लागू किया जा रहा है जिससे कि आने वाली युवा पीढ़ी जो नैतिकता का विकास कर सके तथा पथ भ्रष्ट हुये विद्यार्थी अपना नैतिक विकास कर सके तथा अपने आपको एक अच्छा नागरिक बना सके, इस परिपेक्ष्य में योग का महत्व वर्तमान में उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। अपने आपको सक्षम बना सकेंगे और इस प्रकार देश की उन्नति में सहयोग प्राप्त होगा ।

3. सर्वांगींण विकास में योग की भूमिका

योग वर्तमान में व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसके सर्वांगींण विकास में सहायक है। क्योंकि यदि बच्चों को बचपन से ही योग सिखया जाय और उसको यम नियमों का पालन कराया जाय तो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का, नैतिकता का विकास स्वयं करता है और वह पथभ्रष्ट नहीं होता है। अपने परिवार, समाज देश और राष्ट्र के प्रति एक सच्चा और अच्छा नागरिक साबित होता है तथा उसे अपने आप में बाहय वातावरण से सात्मीकरण करने की प्रक्रिया भी प्रबल होती है क्योंकि वह नियमित योगाभ्यास करता है और अपने आहार– विहार पर नियंत्रण रखता है तो वाहय वातावरण के साथ उसका सांमजस्य भलिभांति ठीक रहता है । उसे सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता तथा मौसमी विकारों से वह प्रभावित नहीं होता है। इस प्रकार इस दृष्टि से भी योग का महत्व परिलक्षित होता है।

4. योग को वृत्ति के रूप में साधना

वर्तमान समय में व्यक्ति योग की शिक्षा उसका आध्यात्मिक दृष्टि से कम उसे अपने जीविकोपार्जन की दृष्टि से भी अपना रहा है। इस प्रकार यह कहना उचित होगा कि योग की साधना वह एक वृत्ति के रूप में कर रहा है। इससे वह योग की शिक्षा ग्रहण कर या तो योग शिक्षक के रूप में अपना कैरियर बनाने का प्रयास करता है या फिर वह स्वयं योग प्रशिक्षण केन्द्र खोलकर उससे अपनी जीविका का संचालन

करता है। इस प्रकार वर्तमान समय में योग का कैरियर (वृत्ति) के रूप में भी अपनाया जा रहा है।

5. आध्यात्मिक क्षेत्र में योग की भूमिका

आध्यात्मिक क्षेत्र में योग का सर्वाधिक महत्व है । आज शायद ही कोई व्यक्ति इस दिशा में अग्रसर होता है क्योंकि सपूर्ण जीवन (सांसारिक जीवन) का त्याग कर योग को अपने अंदर समाहित करने के पश्चात् ही वह इस क्षेत्र में पहुँच पाता है और यह भी हो सकता है कि उसे सफलता मिले या न मिले या फिर कई जन्म भी लग सकते है। बहुत से ऐसे महान व्यक्तित्व के व्यक्ति भी हुये है। जिन्होंने योग के आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति की है। परंतु वर्तमान में ऐसा होना शायद संभव नही हो सकता है परंतु यदि व्यक्ति चाहे तो वह इस पथ पर अग्रसर होकर आध्यात्मिक लाभ भी अर्जित कर सकता योग के पथ पर सब नियमों का पालन कर उसकी सपूंर्ण साधना पद्धति पर अपना अधिपत्य प्राप्त कर वह कई सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में योग का महत्व सर्वोपरि है।

6. योग में अनुसंधान की भूमिका

आज योग में अनुसंधान की सुविधा भी उपलब्ध है। सर्वप्रथम योग में अनुसंधान कार्य का श्री गणेश कैवल्यधाम संस्था के संस्थापक स्वामी कुवल्यानंद जी ने किया था। उन्होंने योग में अनुसंधान कर योग को विज्ञान के समक्ष खड़ा किया है । उन्होंने साबित कर दिया है कि योग में अनुसंधान संभव है और उससे निकाले गये निकर्ष सत्यता के अधिक निकट है इन्ही प्रेरणाओं को लेकर आज योग के क्षेत्र में विभिन्न अनुसंधान किये जा रहे और परिणाम भी वहाँ से प्रकाशित होने वाली विभिन्न–पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित किये जाते हैं। जिससे संपूर्ण जनता को अवगत कराया जाता है । आज विदेशों से विभिन्न योग जिज्ञासु व्यक्ति भी भारत आकर योग में अनुसधांन में लगे हुये है। विदेशों में भी योग का अनुसंधान कार्य चल रहा है और उन्होंने कुछ अपनी नई तकनीक भी विकसित की है। इन्हीं सब विषयों पर

समय–समय पर विचारों का आदान–प्रदान करने के लिये संगोष्ठियाँ भी आयोजित की जाती है । इससे योग को नई दिशा प्रदान की जाती है। इन्हीं उद्देश्यों को लेकर आजकल विभिन्न देशों में योग के 10 या 15 दिवसीय शिविर लगाकर विभिन्न योगाचार्यो द्वारा लोगों को योग की सामान्य जानकारी देकर तथा कुछ सामान्य और सरल से आसन, प्राणायाम का अभ्यास कराया जाता है । इस प्रकार इस माध्यम से लोगों को योग की जानकारी भी प्राप्त हो जाती है। इस समय कुछ महान योगाचार्य भी है जिन्होंने अपने देश में ही नहीं अपितु विदेशों में भी योग का प्रचार–प्रसार किया है। जिसके माध्यम से पश्चिमी देशों में योग का सीखने के उद्देश्य से विदेशी जन भारत आये और योग तथा भारत में ही रम गये ।

स्वास्थ्य के बिना जीवन में सफलता प्राप्त करना असंभव है। संम्पति, स्वास्थ्य, चरित्र (एक कहावत के अनुसार) में तीन बाते महत्वपूर्ण है क्योंकि कहा गया है कि संपत्ति चली जाय तो कुछ नही बिगड़ा क्योंकि उसे पुनः प्राप्त किया जा सकता है । स्वास्थ्य चला गया तो निश्चित हानिप्रद है क्योंकि उसको पाना कठिन होता है और यदि चरित्र का हास हो जाय तो मानिये सब कुछ लुट गया है।

इसलिये योग के द्वारा व्यक्ति अपना स्वास्थ्य और उत्तम चरित्र का निर्माण कर सकता है। प्राचीन काल में तो योग को एक गुप्त विद्या के रूप में माना जाता था । इसे सीखने और सिखाने का अधिकार प्रत्येक को प्राप्त न था। धीरे–धीरे इसका प्रचार–प्रसार बढ़ा और योग की शिक्षा एकांत में न होकर आज शहरों और महानगरों में दी जाने लगी है। इस प्रकार योग का प्रचार–प्रसार का कार्य प्राचीन परंपरा से चला आ रहा है । इससे हमें ज्ञात होता है कि हमारी संस्कृति कितनी पुरानी है। और उससे प्राप्त हुई धरोहर भी उतनी ही प्राचीन है जिसे आज हम पुनः अपनाकर कायम रख रहे है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. एन्साइक्लोपीडिया कंडिका – योत्कामीन (पृ. 706)
2. योग के सिद्धांत एवं अभ्यास – डा. कालिदास जोशी, गणेश शंकर
3. व्यवहारिक योग – डा. कालिदास जोशी
4. हठ प्रदीपिका – स्वामी स्वात्मारामजी
5. हठ प्रदीपिका – एस.एम.वाई.एम. अतिती कैवल्यधाम लोनावाला, पुणे
6. श्रीमदभगवद् गीता – गीता प्रेस, गोरखपुर
7. कल्याण योगांक – गीता प्रेस, गोरखपुर
8. स्वास्थ एवं योग – डा. नारायण प्रकाश एवं गणेश शंकर गिरी
9. योगांक – राज पब्लिकेशन, गीता प्रेस, गोरखपुर
10. हठ प्रदीपिका – स्वामी दिगम्बर प्रकाशक, दिल्ली
11. घेरण्ड संहिता – श्री खेमराज, श्री वेकटेश्वर, स्टीम प्रेस, मुम्बई
12. पतंजलि योगदर्शन – गीता प्रेस, गोरखपुर
13. पातंजल योगप्रदीप – स्वामी ओभानंद तीर्थ, गीता प्रेस, गोरखपुर (सं. 20–30)
14. घेरण्ड संहिता – गंगा विष्णु, श्री कृष्णदास स्टीम प्रेस कल्याण, बंबई (सं. 20–30)